# अनेकान्त

60/4

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

# अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

## इस अक में-



वर्ष- 60, किरण–4
अक्तुबर-दिसम्बर 2007

**सम्पादक :**
**डॉ. जयकुमार जैन**
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र.)
फोन (0131) 2603730

सस्था की
सरक्षक सदस्यता
51,000/
आजीवन सदस्यता
11,000/-
वार्षिक सदस्यता
1,000/
इस अक का मूल्य
10
सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क
**प्रकाशक :**
**भारतभूषण जैन**, एडवोकेट
**मुद्रक :**
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली 32

**विशेष सूचना** : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

## वीर सेवा मंदिर

### (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर में छूट

(रजि आर 10591/62)

# अध्यात्म-पद

## "हम तो कबहुँ न निज घर आये"

हम तो कबहुँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।।

परपद निजपद मान मगन है, पर-परिणति लिपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन भाव न भाये।।

नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल अखण्ड अतुल अविनाशी, आतम गुन नहिं गाये।।

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछिताये।
'दौल' तजो अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये।।

कविवर दौलत [illegible] जी

**सम्पादकीय**

# मूलाचार में वर्णित श्रमणचर्या एवं वर्तमान श्रमणचर्या

विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में पुरुषार्थमूलक श्रमणसंस्कृति का सर्वातिशायी महत्त्व स्वीकृत है। श्रम या पुरुषार्थ को महत्त्व प्रदान करने के कारण ही इसे श्रमण संस्कृति कहा गया है। चर्या शब्द चर् धातु से यत् प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय से निष्पन्न रूप है, जिसके अनेक अर्थ हैं- आहार, विहार, व्यवहार, व्रत, आचरण आदि। चर्या श्रमण संस्कृति के प्रमुख वाहक जैन धर्म को सुव्यवस्थित करने में मेरुदण्ड के समान मानी गई है। श्री बट्टकेर आचार्य द्वारा प्रणीत मूलाचार श्रमणचर्या का विवेचक मूल ग्रन्थ है। जैन चर्या सामर्थ्य के आधार पर दो भागों में विभक्त है– श्रमणचर्या और श्रावकचर्या। श्रमणचर्या मोक्ष का साक्षात् मार्ग है, जबकि श्रावकचर्या परम्परया मोक्षमार्ग कहा जा सकता है।

## (क) मूलाचार में वर्णित श्रमणचर्या

### मूलगुण

मुमुक्षु श्रमण जिन 28 गुणों को अनिवार्य रूप से सर्वदेश पालन करता है, उन्हें मूलगुण कहा गया है। मूल जड़ को कहते हैं। जैसे जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति संभव नही है, वैसे ही मूलगुणों के बिना साधु या श्रमण की भी स्थिति संभव नही है। यदि कोई साधु मूलगुणों को धारण किये बिना उत्तरगुणों या अन्य चर्या का पालन करता है तो उसकी स्थिति वैसी ही कही गई है जैसी कि उस व्यक्ति की, जो अपनी अंगुलियों की रक्षा के लिए मस्तक काट देता है। इसी कारण मूलाचार के रचयिता श्री बट्टकेर आचार्य ने सर्वप्रथम मूलगुणों में विशुद्ध संयमियों को नमस्कार करके जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित 28 मूलगुणों का निर्देश किया है। पाँच महाव्रत, पॉच समिति, पॉच इन्द्रियरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थिति भोजन और

एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।[1] अन्य सभी श्रमणचर्या विषयक ग्रन्थों में ये 28 ही मूलगुण कहे गये हैं। दिगम्बर परम्परा में इस विषय में कोई वैमत्य नही है। श्री वसुनन्दी ने 'मूलगुण उत्तरगुणाधारभूता' कहकर मुलगूणों को उत्तरगुणों का आधारभूत कहा है। भगवती अराधना आदि उत्तरगुण हैं। उनके कारण होने से व्रतों में मूलगुण का व्यपदेश होता है।[2]

## पाँच महाव्रत

हिंसाविरति, सत्य, अदत्तपरिवर्जन, ब्रह्मचर्य एवं संगविमुक्ति ये पाँच महाव्रत कहे गये है। हिंसाविरति अहिंसा का पर्यायवाची है। काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि-इनमें सभी जीवों को जानकर स्थान आदि में हिंसा का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। रागादि के कारण असत्य बोलने का त्याग, परतापकारी सत्य वचनों का भी त्याग तथा सूत्र एवं अर्थ के कथन में अयथार्थ वचनों का त्याग करना सत्य महाव्रत है। अदत्तपरिवर्जन अचौर्य या अस्तेय का नामान्तर है। ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई जो भी छोटी या बड़ी वस्तु है उसे तथा परसंग्रहीत द्रव्य का ग्रहण न करना अदत्तपरिवर्जन महाव्रत है। स्त्रियों को और उनके चित्र को माता, पुत्री एवं बहिन के समान देखकर स्त्री कथा आदि से निवृत्त होना त्रैलोक्यपूजित ब्रह्मचर्य महाव्रत है। जीव सम्बद्ध, जीव-असम्बद्ध एवं जीव से उत्पन्न त्रिविध परिग्रह का यथा शक्ति त्याग करना और इतर परिग्रह में निर्ममत्व होना असंग या अपरिग्रह नामक महाव्रत है।[3]

## पाँच समिति

सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है।[4] प्राणियों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है।[5] ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान, मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन ये पॉच प्रकार की

समितियाँ हैं। प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखने वाले साधु के द्वारा दिवस में प्रासुक मार्ग से जीवों का परिहार करते हुए गमन करना ईर्या समिति है। चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्वपरहितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। छ्यालिस दोषों से रहित, शुद्ध, कारणवश, नवकोटिविशुद्ध और शीतोष्ण आदि में समान भाव से भोजन ग्रहण करना एषणा समिति है। ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण अथवा अन्य उपकरण को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना एवं रखना आदाननिक्षेप समिति है। एकान्त, जीवजन्तुरहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान में मल-मूत्र आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है।[6]

## पाँच इन्द्रियनिरोध

इन्द्रियनिरोध व्रत का विवेचन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि मुनि को चाहिए कि वह चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं स्पर्शन इन पाँच इन्द्रियों को अपने विषयों से हमेशा रोके। सचेतन और अचेतन पदार्थों के क्रिया, आकार एवं वर्ण के भेदों में राग-द्वेष रूप संग का त्याग मुनि का चक्षुनिरोध है। षड्ज आदि जीव से उत्पन्न शब्द तथा वीणा आदि अजीव से उत्पन्न शब्द रागादि के निमित्त हैं। इनका नही करना कर्णेन्द्रिय निरोध है। जीव एवं अजीव स्वरूप सुखदुःख रूप प्राकृतिक तथा परनिमित्तक गंध में राग-द्वेष नही करना, मुनिराज का घ्राणनिरोध है। चतुर्विध अशन, पंचरसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लम्पटता का नही होना जिह्वा इन्द्रिय निरोध है। जीव एवं अजीव से उत्पन्न हुए कठोर, कोमल आदि अष्टविध सुख-दुःख रूप स्पर्श में मोह रागादि नही करना स्पर्शनेन्द्रिय निरोध है।[7]

मनुस्मृति में कहा गया है कि विद्वान् को चाहिए कि आकर्षित करने वाले विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को संयत रखने का प्रयत्न

करें, जिस प्रकार सारथी घोड़ों को संयत रखने का प्रयत्न करता है।[8] मूलाचार में अनगार भावनाधिकार में कहा गया है कि ये इन्द्रिय रूपी घोड़े स्वाभाविक दोष से प्रेरित होते हुए धर्मध्यान रूपी रथ को उन्मार्ग में ले जाते हैं अतः मन रूपी लगाम को मजबूत करो।[9] यहीं पर पाँच इन्द्रियों को व्रत और उपवासों के प्रहारों से वश में करने का विधान किया गया है।[10]

## छह आवश्यक

प्रतिदिन अवश्य करणीय कार्यों को आवश्यक कहा जाता है। मूलाचार में कहा गया है कि जो राग-द्वेष आदि के वश नही होता है, वह अवश है तथा उसका करणीय आवश्यक कहलाता है।[11] आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो अन्य के वश नही है, वह अवश है, उसका कार्य आवश्यक है, जो कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग है।[12] मूलाचार तथा श्रमणचर्या विषयक सभी अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के छह भेद कहे गये हैं 1. समता अथवा सामायिक, 2. स्तव या चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5 प्रत्याख्यान और 6. व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग।

जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु तथा सुख-दुख इत्यादि में समभाव होना सामायिक है। ऋषभ आदि तीर्थंकरों का नाम-कथन, गुण-कीर्तन एवं पूजन करके मन-वचन काय से नमस्कार करना स्तव है। अरहन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा को, तप श्रुत या गुणों में बड़ों को और अपने गुरु को कृतिकर्मपूर्वक या कृतिकर्म के बिना मन-वचन-काय से प्रणाम करना वन्दना है। निन्दा एवं गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के विषय में किये गये उपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है। भविष्य में आने वाले नाम, स्थापना आदि पाप के आगमहेतुओं का त्याग करना प्रत्याख्यान है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अतीत के दोषों का निराकरण प्रतिक्रमण तथा

भविष्य के दोषों का निराकरण प्रत्याख्यान कहलाता है। दैवसिक आदि नियम क्रियाओं में आगमोक्त प्रमाण के द्वारा आगमोक्त काल में जिनेद्र देव के गुणों के चिन्तनपूर्वक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग आवश्यक है।[14]

## सात शेष मूलगुण

प्रतिक्रमण दिन के समय में दो, तीन या चार माह में उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप उपवासपूर्वक केशलोच का विधान किया गया है। यह लोच नामक मूलगुण है। हाथ से लोच करने में दैन्यवृत्ति, याचना, परिग्रह रखना आदि दोषों का होना संभव नही है। वस्त्र, चर्म, वल्कल, पत्र आदि से शरीर को नही ढकना तथा अलंकार एवं परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेष में रहना अचेलकत्व नामक मूलगुण है। स्नानादि का त्याग कर देने से जल्ल, मल एवं पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना अस्नान मूल गुण है। इससे मुनि के प्राणीसंयम और इन्द्रिसंयम का पालन होता है। अल्प भी संस्तर से रहित एकान्त में प्रासुक भूमि पर दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है। अंगुली, नख, दातौन और तिनके के द्वारा अथवा पत्थर, छाल आदि के द्वारा दाँतों के मल का शोधन न करना अदन्तमन या अदन्तधावन मूलगुण है। इससे संयम की रक्षा होती है। दीवाल आदि का सहारा न लेकर निर्जन्तुक भूमि पर पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजुली बनाकर भोजन करना स्थिति भोजन मूलगुण है। सूर्योदय एवं सूर्यास्त के काल में से तीन-तीन घड़ी छोडकर मध्यकाल में एक, दो, या तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना एकभक्त मूलगुण है।[15] लोच से एकभक्त तक के सात मूलगुण साधु के बाह्य चिन्ह हैं।

उक्त मूलगुणों के फल का प्रतिपादन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि इन मूलगुणों को विधिपूर्वक मन-वचन-काय से पालन करके मनुष्य जगत् में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता

है।[16] इन अट्ठाईस मूलगुणों में श्रमण की आहारचर्या, विहारचर्या एवं प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार व्यवस्था समाविष्ट है, किन्तु मूलाचार के मूलागुणाधिकार से भिन्न अन्य अधिकारों में भी इनका महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। इसे संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है।

## आहारचर्या

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।[17] आचार्य बट्टकेर ने मूलाचार के पिण्डशुद्धि नामक अधिकार में साधु की आहारचर्या का तथा उसकी शुद्धि का विस्तृत विवेचन किया है। आहार के छ्यालिस दोषों का वर्णन करते हुए श्री बट्टकेर आचार्य ने कहा है कि श्रमण छह कारणों से आहार ग्रहण करने पर भी धर्म का आचरण करतें हैं तथा छह कारणों से आहार का त्याग करने पर भी धर्म का आचरण करते हैं। वे 1. वेदना शमन हेतु, 2. वैयावृत्ति के लिए, 3. क्रियाओं के लिए, 4. संयम के लिए, 5. प्राणों की चिन्ता तथा 6. धर्म की चिन्ता के लिए आहार ग्रहण करते हैं। 1. आतंक होने पर, 2. उपसर्ग आने पर, 3. ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, 4. प्राणियों पर दया के लिए, 5. तप के लिए और 6. संन्यास के लिए आहार त्याग करते हैं। साधु को चाहिए कि वे बल, आयु, स्वाद, शरीरपुष्टि या तेज के लिए आहार ग्रहण न करें अपितु ज्ञान सयम एव ध्यान के लिए आहार ग्रहण करें।[18] (मूला. 478, 481)

श्रमण प्रासुक भोजन ही ग्रहण करते हैं किन्तु यदि प्रासुक भोजन भी अपने लिए बना हो तो वह भाव से अशुद्ध ही समझना चाहिए। **उन्हें** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं बलवीर्य को जानकर जिनमतोक्त एषणा समिति का पालन करना चाहिए।[19] (मू. 485, 490)

आहार के परिमाण का कथन करते हुए कहा गया है कि उदर का आधा भाग भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से भरे तथा चौथा भाग

वायु के संचरण के लिए खाली रखे।[20] आहार के लिए निकले हुए श्रमण शरीर से वैराग्य, संग से वैराग्य एवं संसार से वैराग्य का विचार करते हुए विचरण करते है[21] तथा काक आदि 32 प्रकार के अन्तरायों का परिहार करते हुए आहार ग्रहण करते हैं।

अभिघट दोष के विवेचन के प्रसंग में मूलाचारकार का कथन है कि **सरल पंक्ति से तीन या सात घर से आई हुई वस्तु आचिन्न अर्थात् ग्राह्य है तथा उन घरों से अतिरिक्त या सरल पंक्ति से विपरीत आई हुई वस्तु अनाचिन्न अर्थात् अग्राह्य है।**[22] क्योंकि इसमें ईर्यापथशुद्धि नही रहती है।

## विहारचर्या

जैन श्रमण अकारण किसी एक स्थान पर निवास नही करते हैं, अतः विहारचर्या श्रमण जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। विहारशुद्धि का कथन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि परिग्रहरति निरपेक्ष स्वच्छन्दविहारी साधु वायु के समान नगर, वन आदि से युक्त पृथिवी पर उद्विग्न न होकर भ्रमण करता रहे। पृथ्वी पर विहार करते हुए वह किसी को पीड़ा नही पंहुचाता है। जीवों के प्रति उसी प्रकार दयाभाव रखता है, जिस प्रकार माता पुत्रों पर दया रखती है।[23] शिवार्य ने भगवती आराधना में कहा है कि अनेक देशों में विहार करने से क्षुधाभावना, चर्या भावना आदि का पालन होता है। अनेक देशों में मुनियों के भिन्न-भिन्न आचार का ज्ञान होता है तथा विभिन्न भाषाओं में जीवादि पदार्थों के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है।[24] विहारकाल में मुनि के विशुद्ध परिणामों का कथन करते हुए श्री बट्टकेर आचार्य ने कहा है कि वे उपशान्त, दैन्य से रहित, उपेक्षा स्वभाव वाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मयरहित होते हैं।[25]

यत्नाचारपूर्वक श्रमण को योग्य क्षेत्र में तथा योग्य मार्ग में विहार करना चाहिए। बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी/रथ अथवा ऐसे ही अनेक

वाहन जिस मार्ग से अनेक बार गमन कर जाते हैं, वह मार्ग प्रासुक है। हाथी, घोड़े, गधा, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी या भेड़ें जिस मार्ग से अनेक बार चलते हैं, वह मार्ग प्रासुक हो जाता है। जिस पर स्त्री-पुरुष चलते रहते हैं, जो आतप आदि से तप्त हो चुका है तथा जो शस्त्रों से क्षुण्ण हो गया है, वह मार्ग प्रासुक हो जाता है।[26]

मूलाचार में साधु के विहार के सम्बन्ध में कहा गया है कि गुरु से पूछकर उनसे आज्ञा लेकर मुनि अपने सहित चार, तीन या दो साथियों के साथ विहार करे। तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य से परिपूर्ण, दीक्षा और आगमन में बली मुनि एकलविहारी भी स्वीकार किया गया है। गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मल-मूत्र विसर्जन करने में स्वच्छन्द तथा बोलने में स्वच्छन्द रुचि वाले मुनि को 'मा मे सत्तूवि एकागी' (मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे) कहकर एकलविहारी होने का निषेध किया गया है। एकाकी विहार से गुरुनिन्दा, श्रुतविनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढता, आकुलता, कुशीलता एवं पार्श्वस्थता दोष आ जाते हैं। वह काँटे, ठूँठ, विरोधी, कुत्ता, बैल, सर्प, म्लेच्छजन, विष, अजीर्ण आदि रोगों से विपत्ति को प्राप्त हो जाता है। एकाकी रहने वाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्वसेवन, आत्मनाश, संयमविराधना ये पाँच पापस्थान उत्पन्न हो जाते हैं।[27]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलाचार में अनियत विहार का विधान करते हुए साधु के स्वच्छन्द एकल विहार का निषेध किया गया है। श्रमण का व्यवहार अट्ठाईस मूलगुणों के परिपालन वाला, आहार पूर्णतः शुद्ध तथा विहार अनियत एवं ससंघ या स्वच्छन्द एकलविहारहीन होना चाहिए।

## (ख) वर्तमान श्रमणचर्या

आज भी अनेक श्रमण 28 मूल गुणों के निरतिचार पालक हैं। जैन

मुनि पाँच पापों का सर्वथा सर्वदेश त्याग करके पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं। आर्यिकायें उपचार से ही सही, पाँच महाव्रतों का पालन करने में उद्यत रहती हैं। पाँच महाव्रतों में अहिंसा प्रथम महाव्रत है। शेष चार अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भावहिंसा का विवेचन करते हुए लिखा है कि रागादि भावों की उत्पत्ति न होना अहिंसा है और उन्हीं की उत्पत्ति होना हिंसा है, यह जिनागम का सार है।[28] हम कतिपय साधुओं की साधुचर्या पर कोई टिप्पणी करके अघोषित उग्रवाद या आतंकवाद के शिकार बनें या फिर अनधिकारी कहलाकर भक्तों की गालियाँ एवं ताड़ना सहन करें, यह सामर्थ्य अब रही नही है। अतः दिशाबोध अक्टूबर 07 के अंक से कुछ यथार्थ यथावत् उद्धृत करना चाहते हैं। साधु एवं श्रावक स्वयं विचार करें कि क्या यही महाव्रतों का पालन है ?

गत वर्ष सम्पन्न श्रवणबेलगोल महामस्तकाभिषेक समारोह से बावनगजा महामस्तकाभिषेक समारोह की तुलना।

मुनिश्री तरुणसागर जी के विगत माह सम्पन्न रजत संयम वर्ष महोत्सव से आचार्य श्री विरागसागर जी के दिसम्बर माह में सम्पन्न होने वाले रजत मुनि दीक्षा समारोह की तुलनात्मक मानसिकता।

बुन्देलखण्ड के कुछ सन्तसमूह के भक्तों में हो रही वर्चस्व की लड़ाई।

गणिनी श्री ज्ञानमति माताजी के गत वर्ष सम्पन्न स्वर्णिम दीक्षा जयन्ती समारोह से गणिनी श्री सुपार्श्वमति माता जी के इसी माह सम्पन्न होने वाले स्वर्णिम दीक्षा जयन्ती समारोह की प्रतिस्पर्धा।

उस मुनि के चार्तुमास के कार्यक्रम मेरे चातुर्मासिक कार्यक्रम से इक्कीस क्यों, ऐसी भावना।[29]

पाँच समितियों का मनसा, वचसा, कर्मणा पालन करने वाला साधु क्या अपने भक्तों द्वारा चातुर्मास की स्थापना के लिए संख्याबल एवं

शक्ति प्रदर्शन को आधार बना सकता है ? क्या योजना आयोग की तरह कोई साधु अपने कार्यक्रमों की परिपूर्ति न देखकर स्वयं को एक महानगर से कुछ ही समय में अन्य महानगर में स्थानान्तरित कर सकता है ? क्या दिन में औसत 30-35 कि.मी. चलकर ईर्या समिति पाली जा सकती है ? अन्यों को समितियों का पाठ पढ़ाने वाले पाठक साधु स्वयं विचार करें तो अच्छा है। साधु की भाषा समिति का प्रत्यक्ष दर्शन तो गुवाहाटी दशलक्षण प्रवास में मैंने स्वयं किया है, जहाँ एक बहिन से साधु ने यथेच्छ दान-चन्दा न देने पर तथा अपने पुत्र से पूछकर देने की बात कहने पर कहा कि क्या तुम अपने पति के साथ रति भी अपने पुत्र से पूछकर करती हो ? बहुत बवाल मचा समाज में, किन्तु अर्थार्थी भक्तों की कमी नहीं है। अब वे अन्य राजधानी में अपना डंका बजा रहें हैं ? इच्छानुसार आहार बनवाना तथा फ्लश के शौचालयों का उपयोग करना क्या समितियों के परिपालन में बाधक नहीं है ? यदि नहीं तो फिर मूलगुणों से इन्हें हटाने का उपक्रम साधु समाज को करना चाहिए।

दिशाबोध में 'अन्जामें गुलिस्ता क्या होगा ?' कहकर अनेक प्रश्न उठाये गये हैं। उनमें से एक प्रश्न उठाकर मैं कतिपय साधुओं के इन्द्रिय निरोध की ओर दिशाबोध के सम्पादक की ओर से इशारा करना चाहता हूँ

"विचारणीय है कि पाँच इन्द्रियों के विषयों का निग्रह करने वाला सन्त क्या सेंट या ईतर का प्रयोग कर सकता है ? क्या मधुर संगीत की रागिनी का दीवाना होना उसके लिए उचित है ? क्या चाटुकारों की भीड़ इकट्ठी कर कविसम्मेलनों में एक मुनि का बैठना उचित है ? क्या मात्र रसना इन्द्रिय का निग्रह ही एकमात्र साधना है।"[30]

दिशाबोध की उक्त टिप्पणी बहुत कुछ कहती है। विचार करें।

साधुओं के द्वारा तन्त्र-मन्त्र का लौकिक कार्यों के लिए प्रयोग अविचारितरम्य हो सकता है। इस विषय में श्री सुरेश जैन सरल के

कथन को उद्धृत कर इस विषय पर अधिक कहना उचित नहीं लगता है। वे लिखते हैं कि "किसी जैन साधु को तन्त्र-मन्त्र की सेना के साथ देखें तो विश्वास करलें कि उन्हें जैनागम का ठोस ज्ञान नहीं है। फलतः भटकन की चर्या में जी रहे हैं। उनके पास दो-दो चार-चार श्रावकों के समूह में जावें और कर्म सिद्धान्त का अध्ययन करने को मनावें। जो मान जावें, उनमें परिवर्तन की प्रतीक्षा करें और जो ने मानें, उन्हें धर्म की दुकान चलाने वाला व्यापारी मानें। ऐसा व्यापारी जिसे अपने लाभ और यश की चिन्ता है, परन्तु समाज और धर्म की नही।"[31]

कतिपय साधुओं के समीप दो-चार दिन रहकर उनके षड् आवश्यकों के परिपालन को अच्छी तरह जाना जा सकता है। हॉ, शेष सात मूलगुण वाले बाह्य लक्षण आज भी प्रायः सभी साधुओं में दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

आज अनियतविहार की प्रवृत्ति छोड़कर कुछ साधु अपने मठ बनाने लगें हैं, आचार्य के अनुशासन का उच्छृंखलतापूर्वक निरादर किया जा रहा है, अयोग्यों को दीक्षा दी जा रही है, अन्य संघ पर साधु-साध्वियाँ कटाक्ष कर रहें हैं, आचार्य/उपाध्याय बनने की होड़ लग गई है, साधुओं की चारित्रिक गर्हा सुनाई पड़ना अब आम बात सी होती जा रही है, साधु अब पीछी-कमण्डलु के साथ टी.वी, कूलर, फोन, मोटर गाड़ी, कंप्यूटर, चूल्हा-चक्की आदि को रखना आवश्यक सा समझने लगे है अपने नाम पर संघों की स्थापना करना उनका उद्देश्य बन गया है। अपने नाम बैंक एकाउण्ट रखकर स्वयं उसे संचालित कर रहें हैं। राजनेताओं की तरह राजकीय अतिथिपना अब स्टेटस सिंबल बन गया है। प्रथमानुयोग की कथायें छोड़कर विकथायें उपदेश का आधार बन गई हैं। ऐसी स्थिति में साधुओं की मूलाचार, भगवती आराधना एवं अष्टपाहुड के स्वाध्याय की ओर रुचि जाग्रत हो-ऐसा श्रावकों का भी प्रयास होना चाहिए।

(1) मूलाचार, गाथा 2-3

(2) 'उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते।'
भगवती आराधना, विजयोदया टीका

(3) मूलाचार, गाथा 4-9

(4) 'सम्यगितिः समितिरिति।'-तत्त्वार्थवार्तिक 9/2

(5) 'प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगदनं समितिः।' सर्वार्थसिद्धि 9/2

(6) मूलाचार, गाथा 4 9

(7) वही, गाथा 16 15

(8) मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय 88

(9) मूलाचार, गाथा 881

(10) वही, गाथा 882

(11) वही, गाथा 515

(12) णियमसार, 141

(13) मूलाचार, गाथा 22, 516

(14) वही, गाथा 23 28

(15) वही, गाथा 29 35

(16) वही, गाथा 36

(17) सर्वार्थसिद्धि, 2/30

(18) मूलाचार, गाथा 478 481

(19) वही, गाथा 485, 490

(20) वही, गाथा 491,

(21) मूलाचार की 493 की आचारवृत्ति टीका

(22) मूलाचार, गाथा 439

(23) वही, गाथा 799 800

(24) भगवती आराधना, 148

(25) मूलाचार, गाथा 806

(26) वही, गाथा 304 306

(27) वही, गाथा 147, 149 154

(28) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 44

(29) दिशाबोध, अक्टूबर 07, पृ. 6

(30) वही, पृष्ठ 7 8,

(31) वही, पृष्ठ 22 23


डॉ. जयकुमार जैन

# श्री मूलाचार की दृष्टि में एकल विहार एवं अनियत विहार

रतनलाल बैनाड़ा

वर्तमान में एकल विहार तथा अनियत विहार के संबंध में बहुत विसंगतियां दृष्टिगोचर हो रही हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी इन दोंनों विषयों पर निरंतर लेख पढ़ने में आ रहे हैं। बहुत से मुनि स्वच्छंद होकर एकल-विहारी बन गये हैं। एकल विहार की परिभाषायें भी मनमानी होने लगी हैं। कोई कम से कम समलिंगी दो साधु होने पर ही ठीक मानते हैं और एक मुनि के साथ यदि कोई क्षुल्लक जी हों तो भी उनको एकल विहारी माना जा रहा है। अनियत विहार तो अधिकांश मुनियों ने समाप्त ही कर दिया है। सारे विहार नियत हो गये हैं क्योंकि शानदार स्वागत देखने की इच्छा साधुओं में बलवती हो गई है। इसको उनकी श्रेष्ठता का मापदंड माना जाने लगा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में एकल विहार तथा अनियत विहार पर आगम की दृष्टि से विचार करना अत्यंत आवश्यक भी है और उपयोगी भी। साधु संबंधी आचार ग्रंथों में 'मूलाचार' को सर्वसम्मति से सर्वोपरि माना जाता है। अतः श्री मूलाचार के आधार से सर्वप्रथम एकल विहार पर विचार किया जाता है।

## मूलाचार की दृष्टि में एकल विहार

एकल विहार शब्द का अर्थ है अकेले विहार करना अथवा संघ से अलग अकेले होकर विहार करना। यद्यपि अकेले विहार करना या संघ के साथ विहार करना, यह साधु के 28 मूलगणों में नहीं आता। परन्तु साधु चर्या के निर्दोष पालन के लिये एकल विहार को उपयुक्त नहीं कहा गया है। एकल विहार करने पर निम्नलिखित दोष कहे गये है :-

**गुरूपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।**
**भिंभल कुसील पार्श्वस्थता य उस्सार कप्पम्हि।।151।।**

**अर्थः** स्वेछाचार की प्रवृति में गुरु की निंदा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं।

**आचार वृत्तिः** संघ को छोड़कर एकाकी विहार करने पर उस मुनि के गुरु का तिरस्कार होता है। इस शीलशून्य मुनि को किसने मूंड दिया है ऐसा लोग कहने लगते हैं। श्रुत की परंपरा का विच्छेद होता है अर्थात् ऐसे एकाकी अनर्गल साधु को देखकर अन्य मुनि भी ऐसे हो जाते हैं, पुनः कुछ अन्य मुनि भी देखा-देखी अपने गुरु के संघ में रहते हैं। तब शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण न करने से श्रुत का नाश हो जाता है। इस जैन शासन में सभी मुनि ऐसे स्वच्छंद ही होते हैं, ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहने लगते हैं, इससे तीर्थ की मलिनता हेती है। तथा उस मुनि में स्वयं मूर्खता, आकुलता, कुशीलता (ब्रह्मचर्य का नाश) और पार्श्वस्थ (शिथिलाचार) रूप दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं। इसी ग्रंथ में एकाकी विहार करने वाले मुनि को पाप श्रमण कहा है।

**आचरिय कुलं मुच्चा विहरइ एगागिणो य जो समणो।**
**जिणवयणं णिंदंतो सच्छंदो होइ मिगचारी। (टि. पृष्ठ 438)**

**अर्थः** आचार्य के संघ को छोड़कर जो एकाकी विहार करते हैं, स्वछंद प्रवृत्ति रखते हैं, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं। ये वंदना के योग्य नहीं होते।

**आयरिलकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।**
**ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्सणोत्ति वुच्चदि दु।।961।।**

**अर्थः** जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है, और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है वह पाप श्रमण कहलाता है।

**आ० कुन्दकुन्द ने भी सूत्रप्राभृत में इस प्रकार कहा है :**

**उक्किट्ठसीहचरियं वहु परियम्मो य गुरुयभारो य।**
**जो विहरइ सच्छंदं, पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं।।9।।**

**अर्थः** जो मुनि सिंह के समान उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकार के परिकर्म (व्रत उपवास आदि) करते हैं, आचार्य आदि के पद का गुरु भार संभालते हैं परन्तु स्वछंद विहार करते हैं, वे पाप को प्राप्त हैं एवं मिथ्यादृष्टि होते हैं।

यहाँ एकल विहार से उपर्युक्त दोष तो आते ही है, इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विपत्तियां भी आ जाती हैं।

**कहा भी है :**

**कंटयखण्णुय पडिणिय साण गोणादि सप्प मेच्छेहिं।**
**पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव।।152।।**

**अर्थः** कांटे, ठूंठ, विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि, सर्प, म्लेच्छजन, विष तथा अजीर्ण आदि रोगों से अपने आप में विपत्ति को प्राप्त कर लेता है।

**आचार वृत्ति** निश्चय से एकाकी विहार करता हुआ मुनि कांटे से, ठूंठ से, मिथ्यादृष्टि क्रोधी विराधी जनों से, कुत्ते गाय आदि पशुओं से या सांप आदि हिंसक प्राणी से अथवा म्लेच्छ अर्थात् नीच अज्ञानी जनों के द्वारा स्वयं को कष्ट में डाल देता हैं। अथवा विषैले आहार आदि से या हैजा आदि रोगों से आत्म विपत्ति को प्राप्त कर लेता है।

एकल विहरी मुनि के क्या इतने ही पाप स्थान होते हैं या अन्य भी? इस पर आचार्य कहते हैं:

**आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य।**
**संजम विराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा।।154।।**

**अर्थः** एकाकी रहने वाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और संयम की विराधना ये पांच पाप-स्थान माने गये हैं।

**भावार्थ :** एकल विहारी मुनि के सर्वज्ञ देव की आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था अर्थात् अन्य मुनि भी उसे एकाकी देखकर वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जायेगें, लोगों के संपर्क होने से अपना सम्यक्त्व छूट जाना और मिथ्यात्वियों के संसर्ग से मिथ्यात्व का सेवन या संस्कार वन जाना, अपने सम्यक्त्व आदि गुणों का नाश होने से आत्मनाश तथा मर्यादा रहित स्वच्छंद इच्छानुसार जीवन हो जाने से संयम की भी विराधना हो जाती है।

उपरोक्त आपत्तियों के कारण श्री मूलाचार में एकल विहार की आज्ञा नहीं है। फिर भी यदि किसी साधु को विशेष अध्ययन आदि के लिये किसी अन्य संघ में या अन्य आचार्य के पास जाना पड़े तो उसे किस प्रकार जाना चाहिये ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं :

**एवं आपुच्छित्ता सगवर गुरूणा विसज्जिओ संतो।**
**अप्पचउत्थो तदिओ वासो तदो णीदी।।147।।**

**अर्थः** इस प्रकार गुरु से पूछकर अर्थात् आज्ञा प्राप्त कर, अपने गुरु से मुक्त होकर वह अपने सहित चार, तीन या दो होकर वहाँ से चला जाता है। अर्थात् एकाकी नहीं जाता।

इस गाथा के अर्थ में वर्तमान में कुछ स्वाध्यायी जन स्वेच्छा से अर्थ करने लगे हैं। उनका कहना है कि कम से कम दो समलिंगी अर्थात् साधु हों, तब ही विहार होता है। पर ऐसा अर्थ न तो गाथा से निकल रहा है और न टीका से ही। टीका में भी इस प्रकार कहा है। ''एवमापृच्छ्य स्वकीयवरगुरुभिश्च विसृष्टः सन् आत्मचतुर्थो निर्गच्छति, आत्मतृतीय आत्मद्वितीयो वा उत्कृष्टमध्यमजघन्य भेदात्''। अर्थ इस प्रकार पूछकर, अपने गुरु से अलग होता हुआ अपने सहित चार, तीन या दो होकर, उत्कृष्ट मध्यम जघन्य के भेद से, चला जाता है। इसी टीकार्थ में भी समलिंगी का कोई वर्णन नहीं है। श्री मूलाचार के अलावा अन्य भी किसी श्रमणाचार प्ररूपक ग्रंथ में कम से कम दो समलिंगी

होने का वर्णन नहीं मिलता। फिर अपनी मनमर्जी से अर्थ का अनर्थ नहीं करना चाहिए। अर्थात् सही अर्थ तो यही निकल रहा है कि वह मुनि, अकेला न जाकर, अन्य एक, दो, या तीन के साथ गमन करे। यहाँ पर श्री आचारसार के निम्न श्लोक पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है :

**इत्येवं वहुशः स्पृष्ट्वा, लब्ध्वानुज्ञां गुरोर्व्रजेत्।**
**व्रतिनैकेन वा द्वाभ्यां, बहुभिः सह नान्यथा।।26।।**

**अर्थः** इस प्रकार यह बारंबार पूछकर गुरु की अनुमति को प्राप्तकर एक, दो अथवा बहुत व्रतियों के साथ जावे, अकेला नहीं जावे।

**विशेष** यहाँ भी 'व्रतिना' शब्द दिया है, मुनिना नहीं दिया। यदि आचार्य को समलिंगी ही कहना होता, तो 'मुनिना' लिखना था, पर ऐसा नहीं किया। इससे भी यह स्पष्ट हो रहा है कि आचार्य को समलिंगी वाले नियम का प्रसंग स्वीकार नहीं है।

## श्री मूलाचार में साधु का विहार दो प्रकार का बताया है :□

**गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थ संसिदो चेव।**
**एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं।।148।।**

**अर्थः** गृहीतार्थ नाम का एक विहार है और अगृहीतार्थ से सहित विहार दूसरा है। इनसे अतिरिक्त तीसरा कोई भी विहार जिनेन्द्र देव ने स्वीकार नही किया है। **आचारवृत्ति** गृहीता जान लिया है अर्थ तत्वों जीवादि को जिन्होंने, उनका विहार गृहीतार्थ है यह पहला विहार है अर्थात् जो जीवादि पदार्थों के ज्ञाता महासाधु देशांतर में गमन करते हुये चारित्र का अनुष्ठान करते हैं उनका विहार गृहीतार्थ विहार है। यह साधु एकल विहारी होता है। दूसरा विहार अगृहीत अर्थ से सहित का है। इनके अतिरिक्त तीसरा विहार अर्हन्तदेव ने स्वीकार नहीं किया हैं।

विशेष यहाँ टीकाकार का अभिप्राय यह है कि गृहीतार्थ विहार

वाला साधु अकेले भी विहार करता है। इस पर पुनः प्रश्न उठता है कि वह एकल विहारी साधु कैसा होता है ? आचार्य लिखते हैं :

**तवसुत्तसत्तएगत्त भव संघडण धिदिस मग्गो य।**
**पविआ आगम बलिओ, एयविहारी अणुण्णादो।।149।।**

**अर्थः** तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्व भाव, संहनन, और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण तथा दीक्षा और आगम में बली मुनि एकल विहारी स्वीकार कियैा गया है।

**आचार वृत्ति** अनशन आदि बारह प्रकार का तप है। बारह अंग चौदह पूर्व रूप सूत्र है। अथवा उस काल क्षेत्र के अनुरूप जो आगम है वह भी सूत्र, तथा प्रायश्चित्त ग्रंथ आदि भी सूत्र नाम से कहे गये हैं। शरीरगत बल को, अस्थि की शक्ति को अथवा भावों के बल को सत्त्व कहते हैं। शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा में रति का नाम एकत्व है। शुभ परिणाम को भाव कहते हैं यह सत्व का कार्य है। अस्थियों और त्वचा की दृढ़ता वज्रवृषभ आदि तीन संहननों में विशेष रहती है। मनोबल को धैर्य कहते हैं। क्षुधादि से व्याकुल नहीं होना धैर्य गुण है। जो इनसे युक्त है, साथ ही दीक्षा तथा आगम से भी बलवान है अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध है, आचार ग्रंथों के अनुकूल चर्या में निपुण हैं ऐसे गुण विशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्रदेव ने एकल विहारी होने की अनुमति दी है।

उपरोक्त गाथा के संदर्भ में विशेष विचार किया जाय तो टीका के अनुसार अन्य सभी गुणवाले साधु तो वर्तमान में हो सकते हैं परन्तु केवल तीन उत्तम संहनन वाला होना वर्तमान पंचम काल में संभव नहीं है। इस पर प्रश्न उठता है कि यदि पंचम काल में तीन शुभ संहनन न होने से कोई भी साधु एकल विहार नहीं कर सकता, तो फिर इस ग्रंथ में इतनी चर्चा ही क्यों की गई ? केवल एक गाथा में इतना ही लिखना ही पर्याप्त था कि वर्तमान पंचमकाल में एकल विहार हो ही नही

सकता। परन्तु इतना विशेष लिखने का अर्थ यही ध्वनित होता है कि टीकाकार का अभिप्राय उत्कृष्टता की अपेक्षा तीन उत्तम संहनन प्रतीत होता है। जबकि मूलगाथा में तीन उत्तम संहनन का उल्लेख ही नहीं है। अतः यहाँ संहनन का अर्थ शारीरिक शक्ति से सहित लगाना ही उचित प्रतीत होता है। यदि अन्य ग्रंथों पर दृष्टि दी जाय तो आचार सार में इस प्रकार कहा है :

**ज्ञानसंहननस्वांतभावनावलवन्मुनेः**
**चिरप्रव्रजितस्यैकविहारस्तु मतः श्रुते।।27।।**
**एतद्गुणगणामेतः स्वेच्छाचाररतः पुमान्।**
**यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि।।28।।**

**अर्थ** : बहुत काल के दीक्षित ज्ञान, संहनन, स्वांत भावना से बलशाली मुनि के एकाकी विहार करना शास्त्रों में माना है। परन्तु जो इन गुणों के समूह से रहित स्वेच्छाचार में रत पुरुष हैं उस मेरे शत्रु के भी एकाकी विहार कभी नहीं हो। श्री मूलाचार गाथा 150 में भी इसी प्रकार कहा है।

उपर्युक्त श्लोकों में भी मात्र अच्छे संहनन का कथन किया गयाा है पर यह नहीं लिखा कि तीन उत्तम संहननों में से कोई एक होना चाहिए।

श्री मूलाचार प्रदीप में एकल विहार के संबंध में कुछ और भी कहा है :

**स्वेच्छावासविहारादिकृतामेकाकिनां मुनि।**
**हीयन्ते सद्गुणा नित्यं वर्द्धन्ते दोषकोटयः।। 2224।।**
**अथाहो पंचमे काले, मिथ्यादृग्दुष्टपूरिते।**
**हीनसंहननानां च मुनीनां चंचलात्मनाम्।। 2225।।**
**द्वित्रितुर्यादिसंख्येन समुदायेन क्षेमकृत्।**
**प्रोक्तोवासो विहारश्च व्युत्सर्गकरणादिकः।। 2226।।**

अर्थ : जो मुनि अकेले ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ निवास करते हैं, चाहे जहाँ विहार करते हैं, उनके सर्वश्रेष्ठ गुण नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोष प्रति दिन बढते रहते हैं ।। 2224 ।।

यह पंचम काल मिथ्यादृष्टि और दुष्टों से भरा हुआ है। तथा इस काल में जो मुनि होते हैं वे हीनसंहनन को धारण करने वाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचमकाल में दो, तीन, चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास, विहार तथा कायोत्सर्ग करना कहा गया है। ।। 2225 2226 ।।

उपरोक्त सभी प्रसंगों को ध्यान में रखते हुये संक्षेप से हम कह सकते हैं कि श्री मूलाचार के अनुसार एकल विहार को अच्छा नहीं माना गया है, परन्तु फिर भी गुरु की आज्ञा लेकर दृढ़ चारित्र एवं संहनन वाले साधु अन्य किसी एक, दो आदि के साथ विहार कर सकते हैं, एकदम अकेले विहार नहीं।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि चा० च० आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने भी 4 वर्ष तक अकेले ही विहार किया था, आ० ज्ञानसागर जी, मुनि चन्द्रसागर जी, मुनि अनंतकीर्ति जी आदि महान् उत्कृष्ट चर्या वाले साधुओं ने भी वर्षों तक अकेले ही विहार किया था। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि एकल विहार से शिथिलाचार को बल मिलता है, फिर भी गुरु आज्ञा से योग्य साधु के एकल विहार का सर्वथा निषेध नहीं है।

जहाँ तक आर्यिकाओं का प्रश्न है, उनके लिये एकल विहार की बिलकुल आज्ञा नहीं है।

**श्री मूलाचार प्रदीप में आर्यिकाओं के लिए इस प्रकार कहा है :**

**यतो यथात्र सिद्धान्नं भोक्तुं सुखेन शक्यते।**

**तथा चास्वामिकां नारीं स्वाश्रमे स्वयमागताम्।। 2303।।**
**अतो जातु न विद्येत क्वचित्काले निजेच्छया।**
**एकाकिन्यार्यिकायाश्च विहारो गमनादिकः।। 2304।।**

अर्थ : जिस प्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है, उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में व घर में आ जाय तो वह आसानी से भोगी जा सकती है। इसलिए अकेली आर्यिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिए।

## श्री मूलाचार की दृष्टि में अनियत विहार

अनियत विहार का तात्पर्य उस विहार या गमन से है जो अस्थायी (एक स्थान पर कितने दिन टिकेंगे इसका पता न होना), अनिश्चित (किस तरफ विहार होगा इसका होगा इसका तय न होना), असीम (ये आगे कहाँ तक जायेंगे उसकी सीमा का निर्धारण न होना), अनियन्त्रित (अपनी मर्जी से गमन होना उस पर किसी का नियन्त्रण न होना), तथा आकस्मिक (बिना किसी को बताये हुए अचानक विहार हो जाना) होता है। दिगम्बर मुनि का विहार उपर्युक्त सभी विशेषणों से अलंकृत होता है, जैसे पूज्य आ. विद्यासागर जी महाराज का जब फिरोजाबाद में चातुर्मास चल रहा था तब दीपावली के उपरान्त विभिन्न विषयों पर प्रवचन श्रंखला चल रही थी। अगले दिन प्रवचन 'अतिथि' विषय पर घोषित कर दिया गया था। अगले दिन प्रातः 7.00 बजे अचानक पूज्य आचार्य श्री ने विहार कर दिया। जब साधर्मी भाईयों को इसकी भनक लगी, तो फिरोजाबाद में सब तरफ अफरातफरी मच गई। सभी लोग पूज्य आर्चायश्री के पास दौड़ पड़े और निवेदन किया कि महाराज जी, आज का प्रवचन 'अतिथि' पर तो हो जाना चाहिए था, फिर विहार होना चाहिये था। पूज्य आचार्य श्री मुस्कराकर बोले मेरा यह अचानक विहार ही अतिथि पर प्रवचन है। ऐसे विहार को अनियत विहार कहा

जाता है। पूज्य आचार्य श्री विहार के समय चौराहे पर पहुँचकर भी मार्गों की जानकारी लेते हैं और किसी भी मार्ग पर विहार हो जाता है। इसे अनियत विहार कहा जाता है। अनियत विहार के सम्बन्ध में श्री मूलाचार में वसति शुद्धि एवं विहार शुद्धि के प्रकरणों के अन्तर्गत अच्छा प्रकाश डाला गया है। विहार शुद्धि के अन्तर्गत इस प्रकार कहा गया है :

**मुत्ता णिराववेक्खा सच्छंदविहारणो जहा वादो।**
**हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं।। 799।।**

**अर्थ** : परिग्रह रहित निरपेक्ष स्वच्छन्द विहारी वायु के समान नगर और आकर से मण्डित पृथ्वीतल पर उद्विग्न न होते हुए भ्रमण करते हैं।। **आचारवृत्ति-** मुक्त-सर्वसंग से रहित, निरपेक्ष- किंचित् भी इच्छा न रखते हुए वायु के समान स्वतन्त्र हुए नगर और खान से मण्डित इस पृथ्वीमण्डल पर विहार करते हैं।

विहार करते हुए उनकी चर्या कैसी होती है, इस सम्बन्ध में कहा है

**वसुधम्मि वि विहरंता पडिं ण करेंति कस्सइ कयाई।**
**जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु।। 800।।**

**अर्थ** वसुधा पर विहार करते हुए भी कदाचित् किसी को भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं। जीवों में दया भाव सहित हैं, जैसे कि पुत्र समूह में माता दया रखती है।

**तणरुक्खहरिदछेदणतय पत्तपवाल कंदमूलाइं।**
**फलपुप्फबोयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति।। 803।।**

अर्थ तृण, वृक्ष, हरित वनस्पति का छेदन तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल तथा फल, पुष्प और बीज इनका घात मुनि न स्वयं करते हैं और न कराते हैं।। 803।।

इस प्रकार विहार करते हुये उन मुनिराजों के परिणाम कैसे होते हैं, इसके लिए कहा है :

**उवसंतादीणमणा उवक्खसीला हवंति मज्झत्था।**
**णिहुदा अलोलमसठा अविह्मिया कामभोगेसु।। 806।।**

**अर्थ** - वे उपशान्त भावी (कषाय भाव से रहित), दैन्यवृत्ति से रहित उपेक्षा स्वभाव वाले (किसी से कोई अपेक्षा न रखने वाले), पंचेन्द्रिय विजयी, निर्लोभी (किसी से कुछ भी न चाहने वाले), मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मय रहित होते हैं।

**ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।**
**सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा।। 786।।**

**अर्थ** वे शरीर से ममता रहित हुये मुनि आवास रहित होते हैं। जहाँ पर सूर्य अस्त हुआ वहीं ठहर जाते हैं, किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं करते हैं, तथा बंधे हुए नहीं रहते हैं अर्थात् स्वतन्त्र होते हैं। बिजली के समान दिखकर विलीन हो जाते हैं अर्थात् एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते हैं।

ये अनियत विहार वाले मुनि महाराज एक स्थान पर कितने समय तक ठहरते हैं, इस सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है :

**गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।**
**सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य।। 787।।**

**अर्थ** ग्राम में एक रात्रि निवास करते हैं और नगर में पाँच दिन निवास करते हैं। प्रासुक विहारी हैं और विविक्त एकान्तवास करने वाले हैं, ऐसे श्रमण धीर होते हैं। **विशेषार्थ** ग्राम में एक रात्रि निवास करते हैं क्योंकि एक रात्रि में ही वहाँ का सर्व अनुभव आ जाता है। नगर में पाँच दिवस ठहरते हैं क्योंकि पाँच दिन में वहाँ के सर्व तीर्थ आदि यात्राओं की सिद्धि हो जाती है। आगे अधिक रहने से वहाँ के निवासियों अथवा वसतिका आदि से ममत्व की उत्पत्ति देखी जाती है।

जन्तुरहित स्थानों में विहार करने वाले होते हैं। स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि से रहित एकान्त एवं शान्त प्रदेश में निवास करने वाले होते हैं।

साधुओं का विहारकाल दो प्रकार का कहा गया है एक वर्षाकाल और दूसरा ऋतुकाल। अनगारधर्मामृत के अनुसार वर्षाकाल में चारों ओर हरियाली हो जाने से एवं पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीवों की बहु उत्पत्ति हो जाने के कारण प्राणी संयम का पालन कठिन हो जाता है। इसलिए वे मुनिराज वर्षाकाल में आषाढ़ सुदी चतुर्दशी से कार्तिक कृष्णा अमावस्या तक एक ही स्थान पर रुक जाते हैं। विशेष परिस्थितियों में कुछ अधिक समय तक भी रुक सकते हैं। दूसरा ऋतुकाल हैं जिसमें बसन्तादि छहों ऋतुओं में स्वाध्याय आदि के निमित्त गुरु आज्ञा पूर्वक एक ऋतु में एक माह तक, एक स्थान पर, रुकने का प्रावधान है।

ऐसे मुनिराजों के बारे में और भी कहा है :

**वसधिसु अप्पडिबद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु।**
**सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसधीसु।। 790।।**

**अर्थ** वसति से बंधे हुए नहीं होते हैं, अतः वे वसति में ममत्व नहीं करते हैं, वे शून्य स्थान श्मशान ऐसी वीर वसतिकाओं में निवास करते हैं।। 790।।

**आचारवृत्ति**-वसतिकाओं में जो प्रतिबद्ध नहीं होते, अर्थात् यह मेरा आश्रय स्थान है, यहीं पर मैं रहूँ इस प्रकार के अभिप्राय से रहित रहते हैं तथा वसतिकाओं में ममत्व नहीं करते हैं, अर्थात् निवास निमित्तक मोह से रहित होते हैं, वे साधु शून्य मकानों में, श्मशान भूमि प्रेतवनों में ठहरते हैं। वे वीर पुरुषों से अधिष्ठित महाभयंकर स्थानों में निवास करते हैं तथा सुन्दर एवं सुविधाजनक वसतिका में आसक्ति नहीं रखते हैं।

**सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु।**
**जिणवयणनणुमणंता अणुविग्गमणा परिवसंति।। 794।।**

**अर्थ** सिंह के समान नरसिंह महामुनि पर्वत के तट, कटक, (पर्वत के ऊर्ध्वभाग के समीप का स्थान), कन्दराओं और गुफाओं में जिनवचनों का अनुचिन्तन करते हुए उत्साह चित्त होकर निवास करते हैं।

**सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुंवति ते पयामं तु।**
**सुत्तत्थं चिंतंता णिद्याय वसं ण गच्छंति।। 796।।**

**अर्थ** स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए वे मुनि प्रथम व अन्तिम पहर में रात्रि में नहीं सोते हैं। वे सूत्र और अर्थ का चिन्तवन करते हुए निद्रा के वश में नहीं होते हैं।। 796।।

उपर्युक्त प्रकार अनियत विहार करने वाले साधुओं के क्या गुण प्रकट होते हैं उसका वर्णन श्री भगवती आराधना में बहुत सुन्दर किया गया है, जो इस प्रकार है :

**दंसणसोधी ठिदिकरण भावणा अदिसयत्तकुसलत्तं।**
**खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति।। 144।।**

**अर्थ** दर्शनशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थो में निपुणता और क्षेत्र का अन्वेषण ये अनियत स्थान में बसने में गुण होते हैं।। 144।। श्री आचारसार में अधिकार 10 की गाथा 6 में भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

**भावार्थ** - अनियत विहार करने वाले मुनियों में निम्न गुण प्रकट होते हैं :

1. दर्शन शुद्धि तीर्थकरों के जन्म स्थान, दीक्षा स्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति स्थान, मानस्तम्भ आदि एवं निषीधिका स्थान देखने वाले के सम्यग्दर्शन में निर्मलता होती है।

2. स्थितिकरण अनियत विहारी साधु सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्ध लेश्या में वर्तमान होता है, उसे देखकर अन्य सभी महामुनिराज संसार से अत्यन्त भीत होते हैं, वे मानते हैं कि ये

मुनिराज जैसे संसार से विरक्त हैं वैसे हम नहीं हैं, अतः वे भी प्रभावित होकर अपने आचार-तप और लेश्या को बढ़ाने में प्रयत्नशील हो जाते है। अनियत विहार से यह परोपकार होता है।

3. भावना अनेक देशों में विहार करने से चर्या में होने वाला कष्ट, भूख, प्यास, शीत तथा उष्ण का दुःख संक्लेश रहित भावपूर्वक सहना होता है। जो वसतिका प्राप्त होती है, उसमें भी ममत्व भाव नहीं रहता।

4. अतिशय अर्थों में निपुणता अनियत विहार होने से अनेक देशों के सम्बन्ध में तथा वहाँ पाये जाने वाले शास्त्रों के शब्दार्थ के विषय में कुशल हो जाता है। विभिन्न आचार्यों आदि के दर्शन से नवीन एवं प्राचीन शास्त्रों की उपलब्धि होती है, उनको जानना देखना होता है। अन्य उत्कृष्ट साधुओं की चर्या आदि देखकर अपने आचरण में प्रवीणता होती हे।

5. क्षेत्र अन्वेषण किस क्षेत्र में त्रस और हरितकाय की बहुलता है, प्रासुक विहार संभव नहीं है, कौन सा स्थान साधु के निवास के लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयक्त है, कौन सा स्थान सल्लेखना के लिए श्रेष्ठ है आदि का अन्वेषण अनियत विहार का गुण है। यदि कोई साधु अपनी उत्कृष्ट सल्लेखना के लिए ऐसे स्थान का अन्वेषण करना चाहता है, जहाँ आचार्य के भक्तों का निवास हो, जहाँ का राजा क्रोधादि दोषों से रहित जिनधर्म से द्वेष न रखने वाला, क्षमाशील हो, जहाँ का मौसम भी न तो अत्यधिक उष्ण हो न शीत ही हो, तो उसके लिए अनियत विहार अत्यन्त आवश्यक है।

अनियत विहार के सम्बन्ध में केवल यह काफी नहीं है कि साधु का विहार अनिश्चित, अनियन्त्रित और आकस्मिक हो। इस सम्बन्ध में भगवती आराधना की निम्न गाथा भी अत्यन्त उपयोगी है।

**वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।**
**सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो।। 155।।**

**अर्थ** वसतियों में और उपकरणों में, ग्राम में, नगर में, संघ में और श्रावकजन में 'सर्वत्र यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प से रहित साधु संक्षेप से अनियत विहारी होता है।

**भावार्थ** अनियत विहार वही माना जाता है जहाँ किसी वसतिका में वहाँ मौजूद तख्त, चौकी आदि उपकरणों में, ग्राम में, नगर में, संघ में तथा विभिन्न स्थानों पर रहने वाले स्त्री-पुरुषों में या उनकी व्यवस्थाओं में 'यह मेरा है', इस प्रकार का संकल्प न हो।

श्री अमितगति आचार्य विरचित योगसारप्राभृत में भी इस प्रकार कहा है :

**उपधौ वसतौ संघे विहारे भोजने जने।**
**प्रतिबन्धं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः।। 14।।**

**अर्थ** जो योगी ममत्व रहित हो गया है, वह उपाधि अर्थात् परिग्रह में, वसतिका अर्थात् आवास स्थान में, चतुर्विध संघ में, विहार में, भोजन में, उस स्थान के निवासियों में प्रतिबंध को नहीं बांधता अर्थात् किसी के भी साथ राग का कोई बन्धन नहीं बांधता है। योगी के लिए पर पदार्थों में ममत्व छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है तभी उसकी योग साधना ठीक प्रकार से हो सकेगी। अन्य वस्तुओं में ममकार और अहंकार, जिनलिंग धारण के लक्ष्य को बिगाड़ने वाला और संसार परिभ्रमण का कारण है।

साधु को किन स्थानों पर निवास करना चाहिए, इस सम्बन्ध में सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह के निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त उपयोगी हैं।

**ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना व्रतशीलादिमण्डिताः।**
**जिनभक्ताः सदाचाराः गुरुसेवापरायणाः।। 8।।**
**नीतिमार्गरता जैना धनधान्यादिसंकुलाः।**

**रूपलावण्यभूषाढ्या नरा नार्यो विचक्षणाः।। 9।।**
**यस्यां वसन्ति पुण्येन सुभगाश्च शुभाशयाः।**
**धर्मार्जनपरा नित्यं दानपूजादितत्पराः।। 10।।**

**अर्थ** जहाँ ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, व्रतशील आदि से सहित, जिनेन्द्र भगवान के भक्त, सदाचरण वाले, गुरु सेवा में तत्पर, नीतिमार्ग में लीन, जिनधर्म के पालक, धन-धान्यादि से परिपूर्ण, रूप लावण्य तथा भूषणों से युक्त, पुण्यशाली सुभग, शुभभाव वाले, नर-नारी निवास करते हैं, वह स्थान प्रशस्त कहा गया है। अप्रशस्त स्थान कैसा होता है उसके सम्बन्ध में लिखते हैं :

**त्यज्यते धार्मिकैर्देशो निःसंयमनमस्कृतिः।**
**निर्विदग्धजनो घोर-म्लेच्छलोकसमाकुलः।। 14।।**

**अर्थ** जहाँ संयम तथा विनय नहीं है, जहाँ अकुशल मूर्ख मनुष्य रहते हैं, और जो भयंकर म्लेच्छ लोगों से भरा हुआ है, ऐसा देश धर्मात्माओं के द्वारा छोड़ देना चाहिए।

**यस्मिन् देशे न तीर्थानि न चैत्यानि न धार्मिकाः।**
**तस्मिन् देशे न गन्तव्यं स्वधर्मप्रतिपालकैः।। 2।।**

**अर्थ** जिस देश में न तीर्थ हों, न प्रतिमाएं हों और न धर्म के पालने वाले लोग हों, अपने धर्म की रक्षा करने वालों को उस देश में नहीं जाना चाहिए।

उपर्युक्त श्री मूलाचार में कथित एकलविहार एवं अनियत विहार के परिप्रेक्ष्य में, वर्तमान अधिकांश साधुओं के आचरणों में आगम निष्ठता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जो साधु, गुरु आज्ञा से संघ से अलग दो या तीन होकर विहार कर रहे हैं। जिनकी चर्या आगम के अनुसार है जो दृढ़ चरित्री, आगम ज्ञानी, परीषहजयी आदि गुणों से विभूषित हैं, उनके विहार को आगम सम्मत माना जाना चाहिए। परन्तु जो अकेले विहार कर रहे हैं, एक आर्यिका के साथ विहार कर रहे हैं, स्वच्छन्द

विहार होने से मूलगुणों एवं चारित्र के पालन में शिथिलाचारी हैं उनके एकल विहार को आगम आज्ञा नहीं है। संघ के आचार्यों को एवं विद्वत् जनों को उस पर अवश्य रोक लगानी चाहिए। इसी प्रकार जिन आचार्यों, साधुओं, क्षुल्लकों आदि ने अनियत विहार का परित्याग करके एक स्थान पर अपना तीर्थ आदि निवास बनाकर रहना अथवा अधिकांश रहना प्रारम्भ कर दिया है, जिनकी आज्ञा बिना उन क्षेत्रों पर कुछ भी नहीं हो सकता, जो इन क्षेत्रों से जुड़ गये हैं अथवा जिनका विहार या आहार बहुत दिन पहले ही नियत हो जाते है। अखबारों में पूर्व ही जिसकी घोषणा हो जाती है, उनके विहार को अनियत विहार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह भी महान् शिथिलाचार है। इस पर भी आगम के परिप्रेक्ष्य में यथाशीघ्र रोक लगानी चाहिए। यद्यपि पंचम काल के इस समय में जबकि साधुओं में शिथिलाचार दावानल के समान वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, उपर्युक्त आगम विरुद्ध चर्याओं का रुकना असम्भव सा प्रतीत होता है। फिर भी विज्ञ जनों को इस दिशा में विवेकपूर्ण कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक है।

1/205, प्रोफेसर्स कालोनी,
हरिपर्वत आगरा

# तत्वार्थसूत्र में गुणव्रत

डॉ० जयकुमार जैन

## व्रत का स्वरूप

जैन परम्परा में व्रत शब्द की प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक परिभाषायें कही गई हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने व्रतसामान्य का लक्षण करते हुए कहा है 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम्।'[1] अर्थात् हिंसा, अस्तेय, चोरी, कुशील एवं परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है। यह व्रत की निवृत्तिपरक परिभाषा है। 'वृतु वर्तने' क्रिया से निष्पन्न होने के कारण मूलतः व्रत शब्द प्रवृत्तिपरक है। अतः स्पष्ट है शुभ कर्मों में प्रवृत्ति का नाम भी व्रत है। इसीकारण **पूज्यपाद** ने व्रत की प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक उभयविध परिभाषा की है **'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः। इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा।'**[2] अर्थात् प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। यह करणीय है, यह करणीय नही है इस प्रकार नियम लेने का नाम व्रत है। इसीलिए सागारधर्मामृतकार पं० आशाधर जी ने लिखा है कि

**'संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।**
**निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मकणि।।'**[3]

अर्थात् किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मो का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। संकल्पपूर्वक पात्रदान आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना व्रत है। इस कथन में व्रत में पाप से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति दोनों स्वीकार की गई हैं।

## व्रती के भेद

जैनाचार्य के परिपालक व्रती के दो भेद हैं अगारी और अनगारी।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों का एकदेश पालन करने वाले अणुव्रती श्रावक को अगारी या गृहस्थ तथा पूर्णरूप से पालन करने वाले महाव्रती साधु को अनगारी कहा जाता है। सामान्यतः अगार का अर्थ घर होता है, परन्तु जैनाचार में यह परिग्रह का उपलक्षण है। फलतः परिग्रह का पूरी तरह से त्याग न करने वाले को अगारी कहते हैं तथा परिग्रह का पूर्णतया त्याग करने वाला अनगारी कहलाता है। यद्यपि अगारी के परिपूर्ण व्रत नहीं होते है, तथापि वह अव्रती गृहस्थों की अपेक्षा व्रतों का एकदेश पालन करता है। अतः उसे भी व्रती श्रावक कहा जाता है।

अणुव्रती श्रावक जीवनपर्यन्त के लिए त्रस एवं स्थावर हिंसा का त्याग नही कर पाता है, परन्तु वह संकल्पी त्रस हिंसा का त्यागकर यथासंभव स्थावर जीवों की हिंसा से भी बचता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के कारण ऐसा असत्य संभाषण नही करता है, जो गृहविनाश या ग्रामविनाश आदि का कारण बन सकता हो। वह अदत्त परद्रव्य को ग्रहण नही करता है, स्वस्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को यथायोग्य जननी, भगिनी या सुता के समान समझता है तथा आवश्यकतानुसार धन-धान्य आदि का परिमाण कर संग्रहवृत्ति को नही अपनाता है।

## गुणव्रत का स्वरूप

अणुव्रती श्रावक के पाँचों अणुव्रतों के परिपालन में गुणकारी दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों की व्यवस्था है। समन्तभद्राचार्य ने **'अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यायन्ति गुणव्रतान्यार्याः'**[4] कहकर गुणों को बढ़ाने के कारण इन्हें आर्यो के द्वारा गुणव्रत कहा जाना माना गया है। सागारधर्मामृत में तो स्पष्टतया कहा गया है कि ये तीन व्रत अणुव्रतों के उपकार करने वाले हैं, इसलिए गुणव्रत कहलाते हैं 'यदगुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत।'[5]

## गुणव्रत के भेद

आचार्य समन्तभद्र देशव्रत को पृथक् गुणव्रत न मानकर उसके स्थान पर भोगोपभोगपरिमाणव्रत का समावेश करते हैं।[6] महापुराणकार जिनसेनाचार्य दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत के तीन भेद मानते हुए कुछ आचार्यों द्वारा भोगोपभोगपरिमाणव्रत को भी गुणव्रत माने जाने का उल्लेख करते हैं

**'दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिःस्याद्गुणव्रतम्।**
**भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम्।।'**[7]

## दिग्व्रत का स्वरूप

आचार्य पूज्यपाद ने प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि **'दिक्प्राच्यादिस्तत्र प्रसिद्धैरभिज्ञानैरवधिं कृत्वा नियमनं दिग्विरतिव्रतम्।'**[8] अर्थात् पूर्व आदि दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बाँधकर जीवनपर्यन्त का नियम लेना दिग्व्रत कहलाता है। इस व्रत में प्रसिद्ध नदी, ग्राम, नगर, पर्वत, जलाशय आदि तक के गमन का नियम लेकर व्रती श्रावक न उसके बाहर जाता है और न ही उसके बाहर लेन-देन करता है।

दिग्व्रत के पालन से गृहस्थ मर्यादा के बाहर किसी भी तरह की हिंसा की प्रवृत्ति से बच जाता है। इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा वह सूक्ष्म पापों से भी बचकर महाव्रती सा हो जाता है। मर्यादा से बाहर व्यापार करने से प्रभूत लाभ होने पर भी व्यापार नहीं करता है, अतः लोभ की भी न्यूनता हो जाती है। आचार्य पूज्यपाद ने दिग्व्रत के इन दोनों प्रयोजन का उल्लेख करते हुए लिखा है

'ततो बहिस्त्रसस्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महाव्रतत्वमवसेयम्। तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिराशश्च कृतो भवति।'[9]

## दिग्व्रत के अतिचार

तत्त्वार्थसूत्र में ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृति-अन्तराधान को दिग्व्रत के अतिचार कहा गया है।[10] अतिचार और अतिक्रम पर्यायवाची शब्द हैं। अतिचार का अभिप्राय है ग्रहण किये गये नियम में दोष का लगाना या किसी कारणवश नियम का अतिक्रमण हो जाना। **सामान्यतः अतिचार में अज्ञात रूप में हुए छोटे-छोटे दोष आते हैं तथा इनकी गुरु के समक्ष आलोचना करने पर या स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेने पर शोधन भी हो जाता है।**

परिमित मर्यादा से अधिक ऊँचाई वाले पर्वत आदि पर चढ़ना **ऊर्ध्वव्यतिक्रम,** मर्यादा से अधिक गहरे कुआ आदि में उतरना **अधोव्यतिक्रम,** तथा सुरंग आदि में मर्यादा से अधिक जाना **तिर्यक्व्यतिक्रम,** नामक अतिचार है। दिशाओं का जो परिमाण किया है, लोभवश उससे अधिक क्षेत्र में जाने की इच्छा करना **क्षेत्रवृद्धि** तथा की गई मर्यादा को भूल जाना **स्मृति-अन्तराधान** नामक अतिचार है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी समन्तभद्राचार्य ने इन्हीं पाँच अतिचारों का कथन किया है। उन्होने लिखा है

**'ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।**
**विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते।।'**[11]

इस सन्दर्भ में आचार्य अकलंकदेव ने क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार के प्रसंग में परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार से इसकी भिन्नता स्पष्ट करते हुए कहा है कि परिग्रहपरिमाणाणुव्रत क्षेत्र, वास्तु आदि विषयक है, जबकि यह दिशाविरमण से सम्बन्धित है। इस दिशा में लाभ होगा, अन्यत्र लाभ नहीं होगा, फिरभी मर्यादा से आगे गमन नही करना दिग्व्रत है। परिग्रह मानकर क्षेत्र वास्तु आदि की मर्यादा करना परिग्रहपरिमाणाणु व्रत है। अतः दोनो के अतिचार में अन्तर है।[12]

## दिग्व्रत का प्रयोजन

दिग्व्रत का प्रयोजन बताते हुए आचार्य अकलंकदेव ने कहा है कि जो व्यक्ति पूर्ण स्वरूप से हिंसादि से निवृत्त होने में असमर्थ है, परन्तु उसके प्रति आदरशील है, वह श्रावक जीवननिर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होने पर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादा को नही लॉघता है। अतः हिंसानिवृत्ति होने से वह व्रती है। इसी कारण निरतिचार दिग्व्रती को मर्यादित क्षेत्र के बाहर की अपेक्षा अहिंसा महाव्रती माना गया है। **'हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम्'**[13] कहकर अकलंकदेव इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं।

## देशव्रत का स्वरूप

जीवनपर्यन्त के लिए किये गये दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी, घण्टा, दिन, महीना, आदि तक तथा गृह, मोहल्ला आदि तक आना-जाना रखना देशव्रत है। इसमें भी उतने समय तक श्रावक महाव्रती के समान हो जाता है, क्योंकि श्रावक मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में पाप से सर्वथा निर्वृत्त हो जाता है। सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने देशव्रत के स्वरूप का कथन करते हुए स्पष्ट किया है कि **'ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देशः। ततो बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्।'**[14] अर्थात् ग्राम आदि की निश्चित मर्यादा रूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जाने का त्याग कर देना देशविरति व्रत कहलाता है।

लाटीसंहिता में देशव्रत के विषयों का कथन करते हुए मर्यादित देश में गमन करने के त्याग के साथ भोजन करने का त्याग, मैथुन का त्याग तथा मौन धारण करने का समावेश किया गया है।[15] समन्तभद्राचार्य के अनुसार दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना सो अणुव्रतधारियों का देशावकाशिक व्रत है। तपोवृद्ध गणधरादिक देशावकाशिक क्षेत्र की सीमा घर, गली, ग्राम,

खेत, नदी, वन या योजना तक कहते हैं। गणधरादिक ज्ञानी पुरूष देशावकाशिक व्रत में काल की मर्यादा एक वर्ष, दो मास, छह मास, एक मास, चार मास, एक पक्ष और नक्षत्र तक कहते हैं।[16]

## देशव्रत के अतिचार

तत्त्वार्थसूत्र में आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप को देशव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।[17] अन्य उत्तरवर्ती ग्रन्थों में देशव्रत या देशावकाशिक व्रत के ये ही पाँच अतिचार माने गये हैं। अपने संकल्पित देश में रहते हुए मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मगाना **आनयन,** किसी को मर्यादा के क्षेत्र से बाहर भेजकर काम करा लेना **प्रेष्य प्रयोग** है। मर्यादा के बाहर के पुरुषों को लक्ष्यकर खाँसी, ताली, चुटकी आदि के इशारे से समझाना **शब्दानुपात**, शरीर, मुख आदि की आकृति दिखाकर इशारा करना **रूपानुपात** तथा पत्थर, कंकण आदि फेंककर संकेत करना **पुद्गलक्षेप** नामक अतिचार है।

## देशव्रत का प्रयोजन

समन्तभद्राचार्य ने देशव्रत का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा है कि सीमाओं से परे स्थूल एवं सूक्ष्म रूप पापों का भलीभाँति त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।[18] इस कथन से सुस्पष्ट हैं कि श्रावक का देशव्रत महाव्रत का साधन हैं।

## दिग्व्रत एवं देशव्रत में अन्तर

आचार्य अकलंकदेव ने दिग्विरतिः'सार्वकालिकीदेशविरतिर्यथाशक्तिः' कहकर कहा है कि दिग्व्रत यावज्जीवन होता है, जबकि देशव्रत यथाशक्ति नियतकाल के लिए होता है। यही दिग्व्रत और देशव्रत में अन्तर है।

## अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप

आचार्य पूज्यपाद ने उपकार न होने पर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है, उसे अनर्थदण्ड कहा है[19] और उससे विरक्त होने का नाम अनर्थदण्डव्रत है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार दिशाओं की मर्यादा के अन्दर-अन्दर निष्प्रयोजन पाप के कारणों से विरक्त होने को अनर्थदण्डव्रत माना गया है।[20] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सिद्ध होता नही है, केवल पाप का बन्ध होता है, उसे अनर्थदण्ड कहते हैं।[21] अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन पाप के त्याग का नाम अनर्थदण्डव्रत है।

संसारी प्राणी का सर्वथा निष्पाप या निरपराध हो पाना संभव नही है। अपने स्वार्थ, लोभ, लालसा आदि की पूर्ति के लिए अथवा मात्र अपने सन्तोष के लिए वह प्रतिक्षण पापपूर्ण कार्यों को करता रहता है। यद्यपि राजकीय कानूनों के तहत वह इन कार्यो से अपराधी नही माना जाता है तथापि धार्मिक दृष्टि से वह कदाचार का दोषी है। अतः श्रावक को गुणात्मक वृद्धि के निमित्त अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत का विधान किया गया है।

## अनर्थदण्डव्रत के भेद

निष्प्रयोजन पाप पाँच कारणों से होता है। कभी यह आर्त्त एवं रौद्र ध्यान के कारण होता है, कभी पापपूर्ण कार्यों को करने के उपदेश के कारण होता है, कभी असावधानीवश आचरण के कारण होता है, कभी जीव हिंसा में कारण बनने वाली सामग्री को प्रदान करने से होता है तथा कभी यह पाप कामोत्तेजक कथाओं आदि के सुनने से होता है। इन्हीं को आधार बनाकर अनर्थदण्डव्रत के पाँच भेद किये गये हैं पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।[22] अनर्थदण्डों की संख्या में कहीं-कहीं अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। आचार्य

अमृतचन्द्र ने उक्त पाँच अनर्थदण्डों में **द्यूतक्रीडा** को जोड़कर छह अनर्थदण्डों का वर्णन किया है,[23] जबकि श्वेताम्बर परम्परा दुःश्रुति को पृथक् अनर्थदण्ड के रूप में उल्लिखित न करके इसका अन्तर्भाव अपध्यान (आर्त्त-रौद्रध्यान) में करती प्रतीत होती है।[24]

निष्प्रयोजन पाप का उपदेश देना **पापोपदेश अनर्थदण्ड** है। इसके अन्तर्गत प्राणीपीडक, युद्धप्रोत्साहक, ठगाई करने वाले, स्त्री-पुरूष का समागम कराने वाले उपदेश सामिल हैं।[25] सागारधर्मामृत में उन समस्त वचनों को पापोपदेश अनर्थदण्ड कहा गया है, जो हिंसा, झूठ आदि से सम्बद्ध हों। उनका कहना है कि व्याघ, ठग, चोर आदि को उपदेश नही देना चाहिए और न ही गोष्ठी में इस प्रकार की चर्चा करना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद के अनसार विष, कांटा, शस्त्र, अग्नि, आयुध सींग, सांकल आदि हिंसा के उपकरणों का दान **हिंसादान** नामक अनर्थदण्ड है।[27] अन्य आचार्यों ने भी इसे ही हिंसादान माना है। गृहस्थी के लिए कभी-कभी आग, मूसल, ओखली आदि को अन्य से लेना पड़ता है। अतः पं० आशाधर जी ने इनकी छूट दी है। परन्तु अनजान व्यक्ति को अग्नि आदि देने का निषेध किया है। क्योंकि वह इनका उपयोग गृहदाह आदि में कर सकता है। यहॉ यह विशेष ध्यातव्य है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में हिंसक पशुओं के पालन को भी इस अनर्थदण्ड में सम्मिलित किया गया है। आर्त एवं रौद्र खोटे ध्यान की **अपध्यान** संज्ञा है। पीडा या कष्ट के समय आर्त्तध्यान तथा वैरिघात आदि के समय रौद्रध्यान होता है। इनका ध्यान नहीं करना चाहिए। यदि प्रसंगवश इनका ध्यान हो जाये तो तत्काल दूर करने का प्रयास करना चाहिए। समन्तभद्राचार्य के अनुसार राग-द्वेष से अन्य की स्त्री आदि के नाश होने, कैद होने, कट जाने आदि के चिन्तन को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहा गया है।[28] सर्वार्थसिद्धि में दूसरों की हार-जीत, मारण, ताडन, अंग छेदन आदि के विचार को अपध्यान कहा गया है।[29] दुःश्रुति को अशुभश्रुति भी कहा गया है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि

हिंसा और राग को बढाने वाली दूषित कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षा देना **अशुभश्रुति** अनर्थदण्ड है।[30] पं० आशाधर के अनुसार जिन शास्त्रों में काम, हिंसा आदि का वर्णन है, उनके सुनने से हृदय राग-द्वेष से फलुषित हो जाता है। अतः ऐसे शास्त्रों के श्रवण को दुःश्रुति कहते हैं।[31] प्रमादचर्या को प्रमादाचरित नाम से उल्लिखित करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने विना प्रयोजन वृक्षादि के छेदने, भूमि को कूटने, पानी को सींचने आदि पाप कार्यों को **प्रमादाचरित** अनर्थदण्ड कहा है।[32] अन्य आचार्यों का भी यही दृष्टिकोण है।

## अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

अनर्थदण्डव्रत के पॉच आतिचार हैं कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य।[33] हास्ययुक्त अशिष्ट वचनों के प्रयोग को **कन्दर्प**, शारीरिक कुचेष्टायुक्त अशिष्ट वचनों के प्रयोग को **कौत्कुच्य**, निष्प्रयोजन बकवाद को **मौखर्य**, निष्प्रयोजन तोड़फोड़ या अधिक कार्य करने को **असमीक्ष्याधिकरण** तथा निपप्रयोजन भोगसामग्री के संचय को **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** कहते हैं।

पं० आशाधर जी ने कन्दर्प एवं कौत्कुच्य को प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डव्रत का, मौखर्य को पापोपदेश नामक अनर्थदण्डव्रत का, असमीक्ष्याधिकरण को हिंसादान नामक अनर्थदण्डव्रत का तथा उपभोगपरिभोगानर्थक्य को भी प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डव्रत का अतिचार माना है।[34] ऐसा प्रतीत होता है कि अपध्यान एवं दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डव्रतों का कोई अतिचार इन पाँच अतिचारों में सम्मिलित नही है। इस पर विचार अपेक्षित है।

## अनर्थदण्डव्रत का प्रयोजन एवं महत्त्व

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि जो व्यक्ति अनर्थदण्डों को जानकर

उनका त्याग कर देता है, वह निर्दोष अहिंसा व्रत का पालन करता है।[35] तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि पूर्वकथित दिग्व्रत, देशव्रत तथा उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत में व्रती ने जी मर्यादा ली है, उसमें भी वह निष्प्रयोजन गमन आदि न करे एवं विषयसेवन आदि न करे, इसी कारण मध्य में अनर्थदण्डव्रत का ग्रहण किया गया है।[36]

यतः अनर्थदण्डव्रत श्रावक की निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग कराके व्रतों को निर्दोष पालने में सहकारी है तथा ये व्रतों में वृद्धि करते है, अतः अनर्थदण्ड के त्याग रूप इस गुणव्रत का श्रावक के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनर्थदण्डव्रतों के पालन से व्यर्थ के पापबन्ध से बचा जा सकता है। पर्यावरण प्रदूषण आज विश्व की भीषणतम समस्या बन गई है। पृथिवी की निरन्तर खुदाई, जल का प्रदूषण, अग्नि का अनियन्त्रित प्रयोग, वायु को प्रदूषित किया जाना, रासायनिक खादों एवं कीटनाशकों से दूषित अन्न एवं वनस्पतियों के प्रयोग ने आज पर्यावरण को अत्यन्त प्रदूषित कर दिया है। यदि विश्व के आधिकांश मानव प्रमादचर्या न करें, निष्प्रयोजन भूमि को न खोदें, आवश्यकता से अधिक जलस्रोतों का उपयोग न करें तथा जलाशयों एवं नदियों के पानी को कारखानों के विषैले दूषित जल से बचावें, कोयला, मिट्टी का तैल, डीजल, पेट्रोल, लकड़ी के जलाने आदि को सीमित करलें, विभिन्न गैसों से वायु प्रदूषित न होने दें और व्यर्थ में पेड़-पौधों को न काटें तो सहज ही पर्यावरण प्रदूषण की भयावह समस्या से बचा जा सकता है। अनर्थदण्डव्रतों का निर्दोष परिपालन लौकिक दृष्टि से भी पर्यावरण समस्या को निराकृत करने में पूर्णतया समर्थ है।

## सन्दर्भ :

1. तत्त्वार्थसूत्र, 7/1.
2. सर्वार्थसिद्धि, 7/1.
3. सागारधर्मामृत, 2/80.
4. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 67.

5. सागारधर्मामृत, 5/1.
6. रत्नकरणश्रावकाचार, 67.
7. महामुराण (आदिपुराण), 10/165.
8. सर्वार्थसिद्धि, 7/1.
9. वही
10. तत्त्वार्थसूत्र 7/30.
11. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 73.
12. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/30.
13. वही, 7/21.
14. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
15. लाटीसंहिता, 6/123.
16. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 92-94.
17. तत्त्वापर्थसूत्र, 7/31.
18. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 95
19. सर्वार्थसिद्धि , 7/21.
20. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 74.
21. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 343.
22. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 75
23. पुरुषर्थसिद्ध्युपाय, 141-146
24. यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, आजनो जैन गृहस्थ धर्म
25. द्र०- रत्नकरण्डश्रावकाचार, 76, चारित्रसार 16/4, पुरूषार्थसिद्ध्युपाय 142,
26. सागारधर्मामृत 5/7.
27. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
28. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 78.
29. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
30. वही
31. सागारधर्मामृत, 5/9.
32. सर्वार्थसिद्धि, 7/21.
33. तत्त्वार्थसूत्र, 7/32.
34. सागारधर्मामृत, 5/12.
35. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 147.
36. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/21.

**–उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर**

# श्रावकाचार और रात्रि भोजन विरमण व्रत

डॉ. अशोक कुमार जैन

'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है और वह चारित्र मुनि श्रावक के भेदसे दो प्रकार का है। जो यह जानते हुए भी कि सांसारिक विषय-भोग हेय हैं, मोहवश उन्हें छोड़ने में असमर्थ होता है वह गृह में रहकर श्रावकाचार का पालन करता है। श्रावकाचार का मतलब होता है जैन गृहस्थ का धर्म। जैन गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। इसका प्राकृत रूप 'सावग' होता है। जैन श्रावक के लिए उपासक शब्द भी व्यवहृत होता है। प्राचीन आगमों मे से जिस आगम में श्रावक धर्म का वर्णन था उसका नाम ही उपासकाध्ययन था। गृहस्थ को संस्कृत में 'सागार' कहते हैं। 'अगार' कहते हैं गृह को उसमें जो रहे सो सागार है अतः धर्म को सागार धर्म भी कहते हैं। श्रावक शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करते हुए लिखा है

**संपत्तंदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य।**
**सामायारि परमं जो खलु तं सावगं विन्ति।।**

**श्रावक प्रज्ञप्ति 2**

जो सम्यग्दर्शन आदि को प्रात करके प्रतिदिन मुनि जन से उत्कृष्ट सामाचारी को सुनता है उसे श्रावक कहते हैं।

**मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः।**
**दानयजनप्रधाना ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।।**

**सागारधर्मामृत 10/15**

जो मूलगुण और उत्तर गुण में निष्ठा रखता है, अर्हन्त आादि पांच गुरुओं के चरणों को ही अपना शरण मानता है, दान और पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं तथा ज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक है वह श्रावक है।

उपर्युक्त श्लोक के विशेषार्थ में लिखा है जो गुरु आदि से धर्म सुनता

है वह श्रावक है अर्थात् एकदेश संयम के धारी को श्रावक कहते हैं। श्रावक के आठ मूलगुण और बारह उत्तरगुण होते हैं। उत्तरगुणों के प्रकट होने में निमित्त होने से तथा संयम के अभिलाषियों के द्वारा पहले पाले जाने के कारण मुलगुण कहे जाते हैं और मूलगुणों के बाद सेवनीय होने से तथा उत्कृष्ट होने से उत्तरगुण कहलाते हैं। संयम के भेदों में प्रथम पाले जाते हैं वे मूलगुण हैं। मूलगुण में परिपक्व होने पर ही उत्तर गुण धारण किये जाते हैं। किसी लौकिक फल की अपेक्षा न करके निराकुलतापूर्वक धारण करने का नाम निष्ठा रखना है तथा अर्हन्त आदि पंच परमेष्ठी के चरण ही उसके शरण्य होते हैं अर्थात् उसकी यह अटल श्रद्धा होती है कि मेरी सब प्रकार की पीड़ा पंचपरमेष्ठी के चरणों के प्रसाद से दूर हो सकती है अतः वे ही मेरे आत्मसमर्पण के योग्य हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनपूर्वक देश-संयम को धारण करने वाले श्रावक का कर्त्तव्य आचार है। चार प्रकार का दान और पांच प्रकार की जिनपूजा कही है। यद्यपि श्रावक का कर्त्तव्य आजीविका भी है किन्तु वह तो गौण है। श्रावक धर्म की दृष्टि से प्रधान आचार दान और पूजा है। श्रावक धर्म की दृष्टि से प्रधान आचार दान और पूजा है यह बतलाने के लिए प्रधान पद रखा है तथा ज्ञानामृत का पान करने के लिए वह सदा अभिलाषी रहता है। यह ज्ञानामृत है स्व और पर का भेद ज्ञान रूपी अमृत। उसी से उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त होती है।

## श्रावकों के भेद

श्रावकों के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये 12 व्रत तथा ग्यारह प्रतिमायें प्राचीनकाल से ही निर्धारित हैं। सागारधर्मामृत में श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये ती भेद करके ग्यारह भेदों को नैष्ठिक श्रावक का भेद बतलाया है। जिसको जैनधर्म का पक्ष होता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पाक्षिक को श्रावक धर्म का प्रारम्भ कहना चाहिए। जो उसमें अभ्यस्त हो जाता है वह नैष्ठिक है, यह मध्यम अवस्था है और जो आत्मध्यान में तत्पर

होकर समाधिमरण का साधन करता है, वह साधक है यह परिपूर्ण अवस्था है।

## रात्रिभोजनविरति विमर्श

जैनाचार में अहिंसा के परिपालन में रात्रि भोजन त्याग पर भी विचार किया गया है। मुनि और श्रावक दोनों के लिए रात्रि भोजन वर्जित माना है। मूलाचार में "तेसि चेव वदाणां रक्खंट्ठं रादि भोयण विरत्ती" लिखकर यह स्पष्ट किया है कि पांच व्रतों की रक्षा के निमित्त 'रात्रिभोजन विरमण' का पालन किया जाना चाहिए। सूत्रकृतांग के वैतालीय अध्ययन में लिखा है

**अग्गं वणिएहि आहियं, धारंती रायाणया इहं।**
**एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा।। 3/57**

आर्थात् व्यापारियों द्वारा लाए गए श्रेष्ठ (रत्न, आभूषण आदि) को राजा लोग धारण करते हैं, वैसे ही रात्रि-भोजन विरमण सहित पांच महाव्रत परम बताये गये हैं उन्हें संयमी मनुष्य धारण करते हैं।

इसी आगम के महावीर स्तुति अध्ययन में लिखा है

**से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।**
**लोगं विदित्ता अपरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारी।।**

दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्वी ज्ञातपुत्र ने स्त्री, भोजन का वर्जन किया। साधारण और विशिष्ट दोनों प्रकार के लोगों को जानकर सर्ववर्जी प्रभु ने सब (स्त्री, रात्रि-भोजन, प्राणातिपात आदि सभी दोषों) का वर्जन किया।

इसी गाथा के पाद टिप्पण में लिखा है कि चूर्णिकार और वृत्तिकार ने माना है कि भगवान ने स्वयं पहले मैथुन तथा रात्रि भोजन का परिहार किया और फिर उसका उपदेश दिया। जो व्यक्ति स्वयं धर्म में स्थित नहीं है, वह दूसरों को धर्म में स्थापित नहीं कर सकता।

आचारांग सूत्र के नौवें अध्ययन में भगवान् महावीर की गृहस्थचर्या और मुनिचर्या दोनों का वर्णन है। चूर्णि की व्याख्या में यह स्पष्ट निर्देश है कि भगवान् विरक्त अवस्था में अप्रासुक आहार, रात्रि भोजन और अब्रह्मचर्य के सेवन का वर्जन कर अपनी चर्या चलाते थे।

इसकी व्याख्या दूसरे नय से भी की जा सकती है। भगवान् महावीर से पूर्व भगवान पार्श्व चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे। उसमें स्त्री-त्याग या ब्रह्मचर्य तथा रात्रि-भोजन विरति इन दोनों का स्वतंत्र स्थान नहीं था। भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन किया। उसके साथ छट्ठे रात्रि भोजन-विरति व्रत को जोड़ा। ये दोनों भगवान महावीर द्वारा दिए गए आचार शास्त्रीय विकास है।

दशवैकालिक सूत्र में इसे छठवां व्रत माना गयाा है। वहां लिखा है

अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं। सव्वं भंते रईभोयणं पच्चक्खामि   सअसण वा पाणं वा खाइयं वा साइयं वा, नेव सयं राइं भजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाषेज्जा राइं भुंजंते विअन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंते पिअन्नं न समणुजाणामि।

**तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।**

भंते! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि भोजन की विरति होती है।

भंते! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य   किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊंगा, दूसरों को नहीं खिलाऊंगा और खाने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से- मन से, वचन से न करूंगा, न कराऊंगा, और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते मैं अतीत के रात्रि भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

**छट्ठे भंते! बए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभेयणाओ वेरमणं भंते** मै छठे व्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व रात्रि-भोजन की विरति होती है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा का नाम-रात्रिभुक्तिविरत रखा है और लिखा है

**अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।**
**स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः।।**

अर्थात् जो प्राणियों पर दया करके रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करता है उसे रात्रिभुक्तिविरत कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी छठी प्रतिमा का यही स्वरूप दिया है और लिखा है

**जो णिसिभुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं।**
**संवच्छरस्य मज्झे आरंभचयदि रयणीए।। 82**

जो पुरुष रात्रि-भोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छह मास उपवास करता है क्योंकि वह रात्रि में आरम्भ का त्याग करता है।

आचार्य अमितगति ने लिखा है जिस रात्रि में राक्षस, भूत और पिशाचों का संचार होता है, जिसमें सूक्ष्म जन्तुओं का समूह दिखाई नहीं देता है, जिसमें स्पष्ट न दिखने से त्यागी हुई भी वस्तु खा ली जाती है, जिसमें घोर अंधकार फैलता है, जिसमें साधु वर्ग का संगम नहीं है, जिसमें देव और गुरु की पूजा नहीं की जाती है, जिसमें खाया गया भोजन संयम का विनाशक है, जिसमें जीते जीवों के भी खाने की संभावना है, जिसमें सभी शुभ कार्यों का अभाव होता है, जिसमें संयमी पुरुष गमनागमन क्रिया भी नहीं करते हैं, ऐसे महादोषों के आलयभूत, दिन के अभाव स्वरूप रात्रि के समय धर्म कार्यों में कुशल पुरुष भोजन नहीं करते हैं। खाने की गृद्धता के दोषवशवर्ती जो दुष्टचित्त पुरुष रात्रि में खाते हैं, वे लोग भूत, राक्षस, पिशाच और शाकिनी डाकिनियों की संगति कैसे छोड़ सकते हैं ? अर्थात् रात्रि में राक्षस पिशाचादिक ही खाते हैं अतः रात्रि भोजियों को उन्हीं की संगति का जानना चाहिए। जो मनुष्य यम-नियमादि

की क्रियाओं को छोड़कर रात्रि-दिन सदा ही खाया करता है, उसे ज्ञानी पुरुष सींग, पूंछ और खुर के संग से रहित पशु कहते हैं। बुद्धिमान लोग तो दिन में भोजन, रात्रि में शयन, ज्ञानियों के मध्य में अवसर पर संभाषण और गुरुजनों में किया गया पूजन शांति के लिए मानते हैं।

**वसुनन्दि श्रावकाचार** में रात्रि भोजन के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है रात्रि को भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियम से रात्रि भोजन का परिहार करना चाहिए। भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट पंतग सर्प और केश आदि रात्रि के समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है है और इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा लेता है। यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य गिरते हैं। इस प्रकार के कीट-पतंग युक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपनी आत्मा का या अपने आप का नाश करता है और परभव में चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को पाता है।

**धर्मसंग्रह श्रावकाचार** में लिखा है जिन पुरुषों ने अहिंसाणुव्रत धारण किया है उन्हें उस व्रत की रक्षा के लिए और व्रत को दिनों दिन विशुद्ध (निर्मल) करने के लिए रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जो पुरुष दो घटिका दिन के पहले भोजन करते हैं वे रात्रि भोजन त्याग व्रत के धारक कहे जाते हैं इसके बाद जो भोजन करते हैं वे अधम हैं।

रात्रि भोजन से शरीर सम्बन्धी हानियां भी होती हैं। रात्रि में भोजन करते समय मक्खी यदि खाने में आ जाये तो उससे वमन होता है। यदि केश (बाल) खाने में आ जाये तो उससे स्वरभंग होता है। यदि यूक (जूवां) खाने में आ जाए तो जलोदर आदि रोग उत्पन्न होते हैं और यदि छिपकली खाने में आ जाय तो उससे कोढ आदि उत्पन्न होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए। जो

पुरुष रात्रि भोजन के समान दिन के आदि मुहूर्त्त तथा अंतिम मुहूर्त्त को छोड़कर भोजन करता है वह इस प्रकार आधे जन्म को उपवास से व्यतीत करता है।

**आचार्य सोमदेवसूरि** ने लिखा है

**अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।**
**निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम्।।**

**उपासकाध्ययन 325**

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए और मूलव्रतों को विशुद्ध रखने के लिए इस लोक और परलोक में दुःख देने वाले रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

**लाटीसंहिता** के कर्त्ता निकृष्ट श्रावक को भी व्रत के रूप में न सही तो कुलाचार के रूप में ही रात्रि भोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रि भोजन की बुराइयां बतलाते हैं। वे लिखते है यह सब जानते हैं कि रात्रि में दीपक के निकट पतंग आते ही हैं और वे हवा के वेग से मर जाते है। अतः उनके कलेवर जिस भोजन में पड़ जाते हैं वह भोजन निरामिष कैसे रहा तथा रात्रि में भोजन करने से युक्त अयुक्त का विचार नहीं रहता। अरे जहां मक्खी नहीं दिखाई देती वहां मच्छरों का तो कहना ही क्या ? अतः संयम की वृद्धि के लिए रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। यदि उतनी सामर्थ्य न हो तो अन्न वगैरह का त्याग करना चाहिए।

**तत्त्वार्थवार्तिक** में लिखा है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में स्फुट रूप से पदार्थ दिख जाते हैं तथा भूमिदेश, दाता का गमन, अन्न-पानादि गिरे हुए या रखे हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं, उस प्रकार चन्द्र आदि के प्रकाश में नहीं दिखते अर्थात् रात्रि में चन्द्रमा और दीपक का प्रकाश होते हुए भी भूमिदेश में स्थित पदार्थ स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते इसलिए दिन में ही भोजन करना चाहिए।

## सूर्य प्रकाश और आधुनिक विज्ञान

जब सूर्य प्रकाश की किरण किसी शीसे से गुजरती है तो उसमें सात रंग दिखाई पड़ते हैं जो वायलेट नीला, बैंगनी, हरा, पीला, नारंगी, और लाल होते हैं। ये रंग सूर्य प्रकाश के आंतरिक अंश रूप (Component parts) है और स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हैं। जीवन शक्ति प्रदायक प्राणतत्त्व का वे सर्जन करते हैं। वैज्ञानिक बताते हैं कि इसके अतिरिक्त सूर्य प्रकाश में Infra-red-ultraviolet की किरणें भी होती हैं। आल्ट्रावायलेट किरणें एक्सरे की तरह पुद्गल के भीतर तक घुसकर कीटाणुओं को नष्ट करने में समर्थ होती है। यह किरणें रात में नहीं मिलती इसी कारण रात में कीडे-मकोड़े आदि अधिक संख्या में निकलते हैं, इस प्रकार विज्ञान से भी यह सिद्ध है कि दिन का भोजन करना स्वास्थ्यवर्द्धक है और उसमें हिंसा भी कम है। इसके विपरीत रात्रि भोजन स्वास्थ्य घातक है और उसमें हिंसा भी अधिक होती है।

## स्वास्थ्य और रात्रि भोजन विरमण व्रत

स्वामी शिवानन्द ने अपनी Health and diet नामक पुस्तक के पृष्ठ 260 पर लिखा है- The Evening meal should be light and eaten very early, if possible take milk and fruits only before 7p.m. no solid or liquid should be taken after sunset.

अर्थात् सायंकाल का भोजन हलका और जल्दी कर लेना चाहिए। आवश्यकता ही हो तो सायंकाल सात बजने से पहले-पहले केवल फल और दूध लिये जा सकते हैं। सूर्यास्त हो जाने के बाद ठोस या तरल पदार्थ कभी नहीं लेना चाहिए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है स्वास्थ्य संतुलन में आहार की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दिन का पहला भाग कफ प्रधान होता है। मध्यान्ह का भाग पित्त प्रधान होता है और सायंकाल का भाग वात प्रधान होता है। यदि

शाम को खरबूजा खायें या उस जैसी दूसरी चीजें खायें तो बीमार ही पड़ेगे। इसलिए भोजन के साथ हित का विवेक भी होना चाहिए।

रात्रि के समय हृदय और नाभिकमल संकुचित हो जाने से भुक्त पदार्थ का पाचन भी गड़बड़ हो जाता है। भोजन करके सो जाने पर वह कमल और भी संकुचित हो जाता है। भोजन करके निद्रा लेने से पाचन शक्ति घट जाती है और रात को सोना अनिवार्य है अतः रात को भोजन करना स्वास्थ्य के लिए बड़ा घातक है।

**सागारधर्मामृत** में लिखा है

**भुंजतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे।**

उत्तम पुरुष दिन में एक बार, मध्यम पुरुष दो बार और सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये रात्रि भोजन त्याग के गुणों को न जानने वाले जघन्य पुरुष पशुओं की तरह रात-दिन खाते हैं अर्थात् जो दिन में केवल एक बार भोजन करते है, वे उत्तम हैं, जो दो बार भोजन करते हैं वे मध्यम हैं और जो रात-दिन खातें हैं वे पशु के तुल्य हैं।

**मुनिश्री महेन्द्र कुमार जी** ने अपनी पुस्तक 'जैनदर्शन और विज्ञान' पृष्ठ 155 में लिखा है कि रात्रि भोजन न करना धर्म से संबंधित तो है ही क्योंकि यह धर्म के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ इस निषेध का एक वैज्ञानिक कारण भी है। हम जो भोजन करते हैं, उनका पाचन होता है तैजस शरीर के द्वारा। उसको अपना काम करने कमे लिए सूर्य का आतप आवश्यक होता है। जब शरीर को प्रकाश नहीं मिलता तब वह निष्क्रिय हो जाता है, पाचन कमजोर हो जाता है। इसलिए रात को खाने वाला अपच की बीमारी से बच नहीं पाता।

जब सूर्य का आतप होता है तब कीटाणु बहुत सक्रिय नहीं होते। बीमारी जितनी रात में सताती है उतनी दिन में नहीं सताती। उदाहरणार्थ वायु का प्रकोप रात में अधिक होता है। ये सारी बीमारियाँ रात में इसलिए सताती हैं क्योंकि रात में सूर्य का प्रकाश

और ताप नहीं होता। जब सूर्य का प्रकाश होता है, तब बीमारियां उग्र नहीं होती। **आचार्य रविषेण** ने तो लिखा है

**मांस मद्यं निशाभुक्ति स्तेयमन्यस्य योषितम्।**
**सेवते यो जनस्तेन भवे जन्मद्वयं हतम्।।पद्मचरित 277**

जो मनुष्य मांस, मद्य, रात्रिभोजन, चोरी और परस्त्री का सेवन करता है वह अपने इस जन्म और परजन्म को नष्ट करता है।

## जैनेतर ग्रंथों में रात्रि भोजन विरति के संदर्भ

महाभारत में नरक के चार द्वारों में रात्रि भोजन को प्रथम द्वार बताते हुए युधिष्ठिर से रात्रि में जल भी न पीने की बात कहते हुए कहा गया है

**नरकद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।**
**परस्त्रीगमनं चैव सन्धानान्तकायिके।।**
**ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।**
**तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते।।**
**नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर।**
**तपस्विनां विशेषेण गृहिणां च विवेकिना।।**

**महाभारत**

अर्थात् रात्रि भोजन करना, परस्त्री गमन करना, अचार, मुरब्बा आदि का सेवन करना तथा कंदमूल आदि अनंतकाय पदार्थ खाना ये चार नरक के द्वार हैं। उनमें पहला रात्रि भोजन करना है। जो रात्रि में सदा सब प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं उन्हें एक माह में एक पक्ष के उपवास का फल मिलता है। हे युधिष्ठिर! रात्रि में तो जल भी नहीं पीना चाहिए, विशेषकर तपस्वियों को एवं ज्ञान सम्पन्न गृहस्थ को तो रात्रि में जल भी नहीं पानी चाहिए। जो लोग मद्य और मांस का सेवन करते हैं, रात्रि में भोजन करते हैं तथा कंदमूल खाते हैं उनके द्वारा की गयी तीर्थयात्रा तथा जप और तप सब व्यर्थ हैं।

**मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्द भक्षणम्।**
**ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः।।**

**पद्मपुराण**

गरुड़ पुराण में रात्रि के अन्न को मांस तथा जल को खून की तरह कहा गया है

**अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।**
**अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेयमहर्षिणा।।**

अर्थात् दिवानाथ यानी सूर्य के अस्त हो जाने पर मार्कण्डेय महर्षि ने जल को खून तथा अन्न को मांस की तरह कहा है। अतः रात्रि का भोजन त्याग करना चाहिए।

सनातन धर्म में भी रात्रि में शुभ कर्म करने का निषेध है। कहा है समस्त वेदज्ञाता जानते हैं कि सूर्य प्रकाशमय हैं। उसकी किरणों से समस्त जगत् के पवित्र होने पर ही समस्त शुभ कर्म करना चाहिए। रात्रि में न आहुति होती है, न स्नान, न श्राद्ध, न देवार्चन और न दान। ये सब अविहित हैं और भोजन विशेष रूप से वर्जित है। दिन के आठवें भाग में सूर्य का तेज मंद हो जाता है। उसी को रात्रि जानना। रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। देव पूर्वाह्न में, ऋषि मध्याह्न में और पितृगण अपराह्न में भोजन करते हैं। दैत्य-दानव सांयाह्न में भोजन करते हैं। यक्ष-राक्षस सदा संध्या में भोजन करते हैं। इन सब बेलाओं को लांघकर रात्रि में भोजन करना अनुचित है।

वर्तमान में विवाह आदि अवसरों पर यहां तक कि धार्मिक कार्यक्रमों में भी रात्रि-भोजन बढ़ रहा है जो जैन जीवन शैली के सर्वथा विरुद्ध है तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक है। आज हम अपनी पहचान को खोते जा रहे हैं अतः अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए हमें रात्रि भोजन की प्रवृत्ति पर संयमन करना आवश्यक है।

रीडर-जैन-बौद्ध दर्शन
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

# भक्तामर स्तोत्र में रस और अलंकारो की योजना

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी

भक्ति काव्यों में स्तोत्र विद्या का अपना विशेष महत्त्व है। जैन धर्म में मूलतः भक्तियों या स्तुतियों की परम्परा काफी प्रचीन है। थुई, थुदि स्तुति, स्तव, स्तवन एवं स्तोत्र के रूप में इसके नामान्तर प्राप्त होते हैं। जैन धर्म का स्तोत्र साहित्य काफी समृद्ध है, किन्तु इस विशाल स्तोत्र साहित्य में शिरोमणि स्तोत्र के रूप में प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र जन-जन का कण्ठहार बना हुआ है। इस चिर नवीन स्तोत्र के रचयिता सातवीं शती के आचार्य मानतुंग ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके गुणों की भक्ति से ओतप्रोत मात्र अड़तालीस वसन्ततिलका छन्दों में इसकी रचना करके अपने को अमर कर लिया है। कवि ने भाव के सार पर इसमें गागर में सागर भरने की उक्ति चरितार्थ की है। अथ से इति तक कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि इसमें रस, अलंकार, छन्द, भाषा, शैली और शब्दयोजना जैसे काव्यात्मक उपादान आरोपित या आयासित हैं। भक्त और भगवान का इतना तादात्म्य सम्बन्ध तथा अपने इष्टदेव के रूप और गुणों का लोक एवं लोकातीत मिश्रित इतना अधिक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है। इसमें भावपक्ष के साथ-साथ सखा भाव के भी दिग्दर्शन होते हैं। इसके कवि मात्र भावुक भक्त ही नहीं अपितु एक उत्तरदायित्वपूर्ण सम्पूर्णता के सृष्टा भी हैं। इसलिए कवि ने इसमें कहीं भी अपने स्वयं के सांसारिक आधि-व्याधि आदि कष्टों से उद्धार की प्रार्थना नहीं की। उन्होंने तो मात्र आदि तीर्थकर ऋषभदेव की केवलज्ञानमय समवशरण स्थित अरिहन्त छवि और इसके गुण, अतिशय तथा प्रभाव का सर्वाङ्गीण चित्रण किया है। इसीलिए इसके 48 पद्य मात्र 48 ही नहीं लगते अपितु इसका प्रत्येक पद्य अपने आप में किसी भी

महाकाव्य का एक-एक अध्याय जैसे लगते हैं, जो पूरे मिलकर एक सफल महाकाव्य की सृष्टि करते प्रतीत होते हैं।

इस स्तोत्र-काव्य पर परवर्ती मनीषियों द्वारा विभिन्न भाषाओं में लिखित शताधिक टीकाओं, विवेचनाओं, गद्य एवं पद्य विद्या के अनुवादों की विपुल संख्या ही इसकी व्यापक लोकप्रियता की प्रमाण हैं। मनीषियों ने इसके प्रत्येक काव्य को यंत्र-मंत्र एवं तत्सम्बन्धी चमत्कार या अतिशय पूर्ण कथाओं से युक्त मानकर इस सम्पूर्ण स्तोत्र को सर्वसिद्धिदायक संकटहरण स्तोत्र माना है। श्रद्धापूर्वक इसके नियमित पाठ और इसके यंत्र-मंत्रों आदि की साधना से जनसामान्य तक ने अनेक लौकिक-अलौकिक चमत्कार होते देखे और अनुभव किये जाते रहे हैं इसीलिए इसकी तत्सम्बन्धी अनेक अनूभूत कथाओं का प्रचलन हुआ। 11वीं शती के आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस स्तोत्र को महाव्याधि नाशक तथा 13वीं शती के एक अन्य प्रभाचन्द्र सूरि ने इसका सर्व-उपद्रव हर्ताके रूप में उल्लेख किया है। अन्य मनीषियों ने भी इसे मान्त्रिक शक्ति से सराबोर माना है। इसीलिए भक्त को अन्तरात्मा से प्रस्फुटित स्तवन, विनती, प्रार्थना और श्रद्धा के रूप में इसका नियमित पारायण अनेक आधि-व्याधियों का विनाशक सिद्ध होता है।

वस्तुतः इसके आधार पर भक्त अपने इष्टदेव के गुणों से प्रेरणा लेकर वह अपने मनोबल एवं आत्मबल का ऊर्ध्वीकरण मानता है। वास्तव में इसके प्रत्येक पद्य में मन्त्रों के अक्षरों की ऐसी संयोजना की गई है, जिसकी साधना अपने अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कराने में पूर्णतः सफल होते हैं।

## भक्तामर स्तोत्र में रसों की रमणीयता

प्रायः यह आम-धारणा है कि जैन काव्य शान्तरस प्रधान होते हैं। किन्तु यह धारणा यथार्थ नहीं है। शान्तरस जैनाचार्यों की साधना के अनुकूल जरूर है किन्तु साधना और कवि-कर्म में कोई अनिवार्य अनुबंध

नहीं हैं। पार्श्वाभ्युदय, जयोदय आदि अनेक महाकाव्यों तथा प्रथमानुयोग के अनेक पुराणों में नवरसों का भरपूर समावेश देखने को मिलता है हों। प्रसंगानुसार या कथानक के अनुसार प्रत्येक काव्य शृंगार या शान्त रस या अन्य रस की प्रधानता से युक्त तो होता ही है।

प्रस्तुत भक्तामर स्तोत्र बसन्ततिलका नामक एक ही छन्द के अड़तालीस पदों में निबद्ध एक ऐसा स्तोत्र काव्य है जिसका प्रत्येक पद्य रसानुभूति एवं काव्य के समस्त लक्षणों से युक्त है। नवरसों से युक्त इस स्तोत्र में अथ से इति तक रमणीयता भरी हुई है।

यद्यपि सच्चे भक्त के रूप में कवि ने तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके विभिन्न गुणों की स्तुति इस स्तोत्र के माध्यम से की है अतः भक्तिरस का प्रवाह सर्वत्र स्वाभाविक रूप में प्रसरित होने से शान्तरस की यहाँ प्रधानता है, किन्तु भक्ति के प्रसंग में अपने आन्तरित भावों को प्रकट करते हुए उन्होंने इसमें वीर, अद्भुत आदि अनेक रसों का संयोजनकर इस स्तोत्र को श्रेष्ठ एवं सफल काव्य का रूप प्रदान किया है।

वीर रस का एक ऐसा अद्भुत उदाहरण कवि ने प्रस्तुत करते हुए कहा है

**सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,**
**कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।**
**प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,**
**नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।।**

इस पद्य में कवि ने जहाँ विनय, भक्ति और स्तुति की संकल्पना को मनोहारी शैली में व्यक्त किया है, वहीं अपनी अल्पज्ञता और असमर्थता व्यक्त करते हुए कवि ने हरिणी का उदाहरण दिया है कि अपने शिशु की रक्षार्थ कमजोर हरिणी भी सिंह जैसे खूंखार और बलशाली का भी मुकाबला करने को उद्यत रहती है। अपने कर्तव्य पर प्राण न्योछावर करने वाली हरिणी का यह उदाहरण वीर रस के प्रयोग का अप्रतिम

उदाहरण बन गया है।

इसी प्रकार 15वें पद्य में कामपरीषह के आने पर ऋषभदेव का सुमेरु पर्वत के समान अडोल अनेय रहना वीरत्व (संयमवीर) या वीररस का अनुपम निदर्शन कवि ने किया है।

**चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्**
**नीतं मनागमि मनो न विकारमार्गम्।**
**कल्पान्तकालमरुताचलिता चलेन**
**किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।।**

अर्थात् हे वीतराग प्रभु ! स्वर्ग की परम रूपवती अप्सराओं ने अपने अनेक उत्तेजक हावों-भावों एवं विलास चेष्टाओं द्वारा आपके मन को चंचल या आकृष्ट करने का भरपूर प्रयत्न किया, परन्तु आपका परम संयमी विरागी मन रंचमात्र भी विचलित नहीं हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि भला, सामान्य पर्वतों को झकझोर देने वाला प्रलयकालीन प्रभंजन (हवा) क्या सुमेरु पर्वत के शिखर को भी हिलाने का कभी दुःसाहस कर सकता है ? कदापि नहीं ?

इस दृष्टि से भक्तामर स्तोत्र का इकतीस वाँ पद्य भी काफी महत्त्वपूर्ण है

**छन्नत्रयं तव विभति शशाङ्ककान्त**
**मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर प्रतापम्।**
**मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,**
**प्रख्यापयत्यिजगतः परमेश्वरत्त्वम्।।31।।**

हे प्रभो! आपके मस्तक के ऊपर स्थित तीन छत्र, जो कि सूर्य किरणों को भी पराजित कर रहें हैं- ये चन्द्रमा की कान्ति के समान सुशोभित हैं। इन छत्रों के चारों ओर सजीं मणि-मुक्ताओं की झालरें इन्हें और भी नयनाभिराम बनाती हुई आपके तीन लोक के आधिपत्य को

विज्ञापित कर रही हैं

इस पद्य में प्रथम तीर्थंकर का चक्रवर्तित्व रूप का विवेचन वीररस के उत्कृष्ट उदाहरण का द्योतन कर रहा है। साथ ही इसमें उपमा अलंकार तथा प्रसादगुण युक्त शैली का अद्भुत संयोजन देखते ही बनता है। यद्यपि कवि ने प्रत्येक पद्य में किसी न किसी रूप में रसों का संयोजन अपने कौशल से प्रस्तुत किया है किन्तु भगवान आदिनाथ के सौन्दर्य के वर्णन-प्रसंग में विशेषकर पद्य सं० 17 एवं 19 में कवि ने बड़ी कुशलता के साथ अद्भुत रस का अच्छा प्रयोग किया है यथा-

**नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,**
**स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।**
**नाम्भोधरोधरनिरुद्धमहाप्रभावः,**
**सूर्यातिशायि महिमाति मुनीन्द्र लोके।।**

अर्थात् हे मुनीन्द्र ! आपकी तेजस्विता सूर्य से भी अधिक है। क्योंकि आप केवल ज्ञान रूपी ऐसे सूर्य के धारक हैं जो तीनों लोकों को सदा ज्ञान-प्रकाश देता है, जो कभी अस्त नहीं होता। सूर्य को तो राहू ग्रस लेता है परन्तु आपको कोई प्रकाशहीन नहीं कर सकता, आप अजातशत्रु हैं। सूर्य का प्रकाश क्षेत्र सीमित है, पर आप तो त्रिभुवन को सदा प्रकाश दान देते रहते हैं। सूर्य को तो मेघ (बादल) आच्छादित कर लेते हैं, किन्तु आपकी प्रकाश शक्ति को कोई भी अवरुद्ध नहीं कर सकता।

यहाँ भगवान् का जो केवल ज्ञान सूर्य समस्त त्रिलोक को प्रकाश युक्त करता है, वह बात भौतिक सूर्य में असम्भव है। इस कथन के द्वारा आपने कवि समकक्ष उपमानों को कभी हीन सिद्ध करके और कभी समतुल्यता का ही निषेध करके उपमेय (भगवान के गुणों) की सर्वोच्चता सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार पद्य सं० 19-

**नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,**
**गम्यं न राहु वदनस्य न वारिदानम्।**
**विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,**
**विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम्।।19।।**

यहाँ भगवान् का मुखकमल विश्व को आलोकित करने वाला विलक्षण एवं अपूर्व चन्द्रमा बतलाया गया है। क्योंकि उनका यह मुख रूपी चन्द्रमा नित्य एवं सर्वत्र उदित होता है, मोहान्धकार को ध्वस्त करता है। इसे मेघ एवं राहु भी ढक नहीं सकते। जबकि जगत् में प्रसिद्ध लौकिक चन्द्रमा में ये सब विशेष कमियाँ हैं।

यहाँ भगवान के मुख में कमलत्व और चन्द्रत्व ये दोनों उपमान की अपनी विलक्षणता लिए हुए हैं। कमल और चन्द्रमा की संगति एक सफल किन्तु विलक्षण प्रयोग है। इस प्रकार इस स्तोत्र का प्रत्येक पद्य रसबोधक तथा अर्थद्योतन में पूर्ण समर्थ है।

## अलंकार-योजना

किसी भी सफल काव्य के उपादानों में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः कवि आपकी भावनाओं को अलंकारों के माध्यम से अत्यधिक सशक्त रूप में अभिव्यक्त करने में सफल होता है। इसी दृष्टि से हमें इस स्तोत्र में भी अलंकार की छटा सर्वत्र दिखलाई देती है। यहाँ उपमा परिकर, अर्थापत्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक एवं दृष्टान्त आदि अनेक अलंकारो का कुशलता से प्रयोग करके कवि ने स्तोत्र में सौन्दर्य की सृष्टि की है। जैसा कि यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस संपूर्ण स्तोत्रकाव्य में भाषा, शैली एवं अलंकार आदि कहीं भी आरोपित एवं आयासित नही हैं। वह सहज एवं प्रासादिक है। आ० मानतुंग ने प्रायः अपने इष्टदेव के स्तवन में तुलनात्मक अर्थात् साम्य-वैषम्य मूलक पद्धति को अपनाया है। उसमें भी वैषम्यमूलक शैली (contrastive style) का आधिक्य है। इस शैली से भाव संप्रेषण में स्पष्टता प्रभावकता एवं

निश्चयात्मकता आनी है। इसीलिए रूपक उपमा और श्लेष उनके प्रिय अलंकार हैं। हीनोपमा पर तो उनका विशेष अधिकार दिखता है। 19वें पद्य में इसे देखा जा सकता है। 16वें पद्य में अनुप्रास अलंकार की छटा दृस्टव्य है

**निर्धूमवर्तिरपवर्गित तैलपूरः,**
**कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।**
**गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,**
**दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत् प्रकाशः।।**

अर्थात् हे ज्योतिर्मय ! आप सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान रूपी चिर प्रकाश देने वाले हो लोकोत्तर दीपक हैं, जिसे बाती और तेल की जरूरत नहीं और जिससे धुँआ भी नहीं निकलता, बड़े-बड़े ऊँचे पर्वतों को झकझोरकर देनेवाली आँधी भी जिसका बाल बाँका नहीं कर सकती। लौकिक दीपक क्षणिक प्रकाश देता है, और अल्पायु होता है, जबकि प्रभु का केवल ज्ञान रूपी दीपक अक्षय है और अन्तरात्मा को प्रकाशित करता है। कवि ने सम्पूर्ण स्तोत्र में सूर्य, चन्द्र, कमल, दीप, समुद्र, पवन आदि प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग तो किया, किन्तु बिलकुल नये दृष्टिकोण से उन्होंने अपने उपमेय की तुलना में सर्वथा हीन सिद्ध किया है। उपमान-उपमेय का साम्य-वैषम्य तथा तिरस्कृतवाच्य ध्वनि भी अभिप्रेत प्रभाव-प्रेषण में सहायक है।

भक्तामर स्तोत्र में उपमा अलंकार का बहुविध प्रयोग देखने को मिलता है। जहाँ उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य स्थापित किया जाए वहाँ उपमा अलंकार होता हैं। प्रस्तुत स्तोत्र में इसकी छटा अनेक पद्यों में झलकती है। "सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश" नामक पूर्वोक्त पंचम पद्य में जब कवि कहते हैं कि हे प्रभो! हरिणी दुर्बल होने पर भी अपने शिशु की रक्षार्थ आक्रमणकारी सिंह का भी मुकाबला करती ही है। यहाँ भक्त की उपमा मृगी से की गई है। यद्यपि सिंह उसके सामने होता है, अपनी असमर्थता का ज्ञान भी उसे होता है किन्तु

अपने शिशु के साथ असीम वात्सल्य होने के कारण वह हरिणी क्या सिंह से जूझने के लिए तैयार नहीं होती ? होती ही है। इसी तरह भक्त अपनी अज्ञानता से परिचित होते हुए भी स्तुति में प्रवृत्त होता है। यहाँ भक्त कवि ने अपनी उपमा उस मृगी से की है। अतः उपमा अलंकार का यह श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

इसी स्तोत्र के "त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निवद्धं" नामक सातवें पद्य के अन्तिम चरण "सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकरम्" में भगवान् की स्तुति कर्मान्धकार विदारण रूप सामर्थ्य को द्योतित करने के लिए सूर्यांशु को उपमान बनाया गया है। इसी प्रकार "मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद... नामक आठवें पद्य, आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं नामक पद्य तथा उच्चैरशोकतरुसंश्रित नामक 29 वें पद्य में उपमा अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

इसी प्रकार कविने दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग भी अनेक पद्यों में किया है। दृष्टान्त अलंकार वह है, जहाँ उपमेय-उपमान में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादमीठ...नामक तृतीय पद्य के "बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब" इस चरण में भक्त कवि असमर्थता प्रकट करते हैं। इसी तरह दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष विलोकनीयम्... नामक 11वें पद्य के "पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्ध सिन्धोः- इस चरण में दृष्टान्त अलंकार के साथ अर्थापत्ति का अच्छा प्रयोग हुआ है। इस पद्य में अर्थगर्भी भाषा, माधुर्य गुण तथा उपमा एवं दृष्टान्त अलंकार की छटा मूल भाव को अभिराम बनाती हैं।

स्तुति काव्यों का प्रिय परिकर नामक अलंकार भी यहाँ भरपूर छटा के साथ अनेक पद्यों में विद्यमान है। साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग परिकर अलंकार का लक्षण हैं। "नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ" नामक 10वें "बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित"... नामक 25वें आदि पद्यों में तो परिकर अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

व्यतिरेक अलंकार भी इस स्तोत्र का प्रिय अलंकार है। सामान्यतया उपमान, उपमेय से अधिक गुण वाला होता है, किन्तु जहाँ: उपमेय की अपेक्षा उपमान ह्रस्व हों, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। इसकी छटा तो यहाँ अनेक पद्यों में दिखती है जहाँ तीर्थंकर ऋषभदेव की गुणीय उदात्तता एवं सर्वोच्चता का प्रतिपादन करने के लिए कवि ने इसका उपयोग किया है। "नास्तं कदाचित् नामक 17 वें पद्य के अन्तिम चरण सूर्यातिशायी महिमासि मुनीन्द्र लोके"- इस चरण में भक्त कवि समकक्ष उपमानों की कभी हीन सिद्ध करके तो कभी समतुल्यता का ही निषेध करके उपमेय की सर्वोच्चता सिद्ध करते हैं। इसी तरह 18वें एवं 19वें पद्य में मुख सौन्दर्य की अधिकता मन्ये वरं नामक 21वें पद्य में तीर्थकर भगवान् की श्रेष्ठता, स्त्रीणां शतानि नामक 22वें पद्य में तीर्थकर ऋषभनाथ की माता का लोकोत्तर मातृत्त्व आदि व्यतिरेक अलंकार के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

इस प्रकार भक्तामर स्तोत्र का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर हमें इसके प्रत्येक पद्य में रस और अलंकारों की छटा सर्वत्र विखरी हुई मिलती है। किन्हीं-किन्हीं पद्यों में एक से अधिक अलंकारों का प्रयोग भी इस स्तोत्र का वैशिष्ट्य है।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

# यह सप्तरंगी अभिषेक कहां से आया ?

पानचन्द जैन पूर्व जस्टिस, जयपुर

जैनधर्म में निजी पुरुषार्थ को व व्यक्ति के आचरण को सर्वोपरि माना गया है। कारण कार्य अनुभूत कर्म सिद्धान्त जैनधर्म की विधा है। जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुसार स्वयं तीर्थंकर भी किसी के अच्छे बुरे कर्मों को हीनाधिक नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं व्यक्ति अपने सम्यक् तप आचरण, त्याग से कर सकता है। यही कारण है कि वीतराग प्रतिमाओं से किसी भी प्रकार की याचना वर्जित की गई है, किन्तु आज अधिकांश आचार्य, मुनिगण, कई प्रकार के विधानों से आशीष देते हैं और किसी को तो श्राप तक दे देते हैं।

जैनधर्म की शाश्वतता व अमरता का आधार है, उसके अहिंसा, अनेकान्त व अपरिग्रह के सिद्धान्त। जैनी कर्मवादी है। यदि कर्म सिद्धान्त सही है तो मंत्र तंत्र विधानादि प्रदर्शनों, जुलूसों के लिए प्रभावना का तर्क दिया जाना मिथ्या है, क्योंकि इनसे  कोई प्रभावना नही होती। किसी भी धर्म की वास्तविक प्रभावना उसके अनुयायियों के चरित्र और आचरण से होती है। जैनियों के आचरण से ही उनकी विशिष्ट प्रतिष्ठा रही है। भूतकाल में जाकर देखें तो विलासी नवाब व राजा प्रतिष्ठावान जैनियों को उच्च पद पर बैठाते थे। मंत्री पद और कोषाध्यक्ष का पद अधिकांशतः जैनियों को ही दिया जाता था, किन्तु वर्तमान में यह प्रतिष्ठा लगभग समाप्त सी हो गई है। क्योंकि हमारा स्वयं का व साधु का आचरण शुद्ध नहीं रहा। हमारी कथनी करनी में  भेद आ गया है। वर्तमान में आचार्य, साधु साध्वियों की भरमार है। साथ ही उनके अपने विधानों की भी भरमार है। आचार्य, मुनि व साधु साध्वियां भिन्न-भिन्न विधाओं का प्रतिपादन करतें रहें हैं, किन्तु व्यक्तिगत चरित्र निर्माण का जैनधर्म की अस्मिता का जैनी की पहिचान का कोई भी कार्य करता कोई दिखाई नहीं देता। सभी विधानों में अहिंसा व अपरिग्रह के सिद्धान्तों का घोर हनन होता है। यहां तक कि वीतराग तीर्थंकरों की पूजा अर्चना में भी परिग्रह की पराकाष्ठा दिखाई देती है। अपरिमित भव्यता में परिग्रह के मूल

सिद्धान्त तिरोहित हो गए हैं। तीर्थंकर तो परम अपरिग्रही होते थे और इसी का उपदेश देते हैं, किन्तु आज आचार्यों के अनुयायी व आचार्य स्वयं भी अपनी मान प्रतिष्ठा में परिग्रह के प्रदर्शन से अपने ही उपदेश व जैन धर्म के सिद्धान्तों की अवमानना कर रहे हैं। तीर्थंकर अथवा महापुरुष अपनी स्वयं की पूजा का उपदेश कोई नहीं देता। उनका उपदेश तो निर्दिष्ट सन्मार्ग अपनाने का ही होता है। एक बात मैं विशेष तौर पर कहना चाहूंगा क्योंकि यह विचित्र विडम्बना है कि अभिषेक जो एकमात्र जन्म कल्याणक के समय ही निर्दिष्ट है, वीतराग प्रतिमा पर भी किया जाता है जबकि साधु अवस्था में भी स्नान वर्जित है।

महामस्तकाभिषेक महोत्सव अब एक आम बात हो गई है। अभी कुछ समय पूर्व ही हमने श्रवणबेलगोला में महामस्तकाभिषेक महोत्सव देखा। कलशों से अपार धन संग्रह हुआ। यह सच है कि इस धन के उपयोग हेतु कुछ योजनाएं बनाई गई है, किन्तु उसका कार्यान्वयन कैसे होता है। यह भविष्य बतलायेगा। पंचकल्याणक के समय अथवा ऐसे ही महोत्सवों पर कितने धन का अपव्यय हुआ है इसका अनुमान लगाना कठिन है। दिगम्बर जैन समाज में प्रतिवर्ष 500 करोड़ का अपव्यय विधानादि में अनुमानतः होता है। इसकी राशि के ब्याज से अनेक सत्कार्य जैसे औषधालय, विधवा आश्रम, विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय संचालित किए जा सकते हैं और यदि ऐसा किया तो उससे जैन धर्म की प्रभावना ही बढ़ेगी, किन्तु ऐसा नहीं होता, सारा धन खाने में तथा अन्य अनावश्यक कार्यों में बर्बाद कर दिया जाता है। जैनधर्म की संस्कृति इस बात की ओर इंगित करती है कि विवेक व सादा जीवन, सादा व्यवहार एवं सादा खाना यह आत्मीय गुणों की वृद्धि करता है, किन्तु हमारा आचरण सर्वथा इसके विपरीत है। आपकी बात से मैं सहमत हूं कि जब जलाभिषेक, पंचामृत अभिषेक की बात हम करते हैं तो फिर यह सप्तरंगी अभिषेक कहां से आया ? किस धार्मिक पुस्तक में इसकी व्यवस्था दी गई है ? जैनधर्म में तो तीर्थंकरों को भोग लगाने का कोई विधान भी नहीं है फिर सप्तरंगी अभिषेक क्या विधा है। यह केवल मात्र धन का दुरुपयोग है तथा धन का भोंड़ा प्रदर्शन मात्र है।

यह कहना सही है कि अ. भा. दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष के सानिध्य में दिगम्बर जैन राष्ट्रीय शीर्ष संस्थाओं की कोर्डिनेशन कमेटी ने अपनी बैठक में यह प्रस्ताव पारित किया था कि तीर्थों व मंदिरों में प्रचलित जो परम्पराएं चली आ रहीं हैं उनमें बदलाव नहीं होना चाहिए। फिर समझ में नहीं आता कि सप्तरंगी अभिषेक की सूझ किसके मस्तिष्क की उपज है ? ऐसा मालूम होता है कि किसी गरीब जैन के लिए बावनगजा महा मस्तकाभिषेक में शामिल होना संभव ही नहीं है क्योंकि बिना कलश राशि दिए न तो वह कलश कर सकता है और न ही उसे कोई आवास की सुविधा प्राप्त होगी। मेरा तो यह मत है कि पंचकल्याणक आदि के भव्य आयोजन समाप्त होने चाहिए और जै समाज को जो धन आयोजनों से प्राप्त होता है उस धन से राष्ट्र हित में जनोपयोगी योजनाएं बनाई जाना चाहिए जिसे जैन समाज की प्रभावना होगी, धर्म की प्रभावना होगी। मानवता की प्रभावना होगी। मानव की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। वर्तमान में साधुओं के आचरण को लेकर अंगुली उठाई जा रही है और विडम्बना है कि समाज उन्हीं साधुओं द्वारा निर्देशित विधानों का प्रतिपादन करते हैं। हमारी प्रतिष्ठा को भारी आघात लग चुका है।

आज यदि जैन धर्म को बचाना है तो हम सबको इस विषय पर चिन्तन करना चाहिए। हमें एक दूसरे की बात के खण्डन से बचना होगा। अनेकान्त की विचारधारा से हम आपस में मिल जुलकर समाधान निकाल सकते हैं। आंख पर पट्टी बांधकर मुनिभक्त होने से बचना होगा। हमें अपनी मर्यादा में रहना है और साथ ही अपने साधुओं को अपनी मर्यादा में रखना होगा। आज जैनधर्म पर सभी ओर से आक्रमण हो रहे हैं हम इसका मुकाबला संगठित होकर ही कर सकते है। समाज को हमें समझाना होगा कि जैनधर्म स्वतंत्र धर्म है। जैनों को भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक का दर्जा प्राप्त है, जिसके आधार पर हम हमारे स्कूल, कॉलेज आदि चलाने में स्वतंत्र हैं, जहां सरकार का कोई दखल नहीं होगा।

307-306, तीसरी माला, गणपति प्लाज़ा एम.आई. रोड़, जयपुर

(समन्वय वाणी वर्ष 28/1 से साभार)